UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176983
UNIVERSAL
LIBRARY

**OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY**

Call No. H901/R12B Accession No. H2959

Author राधाकृष्णन् सर्वपल्ली ।

Title भारत की अन्तरात्मा । 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

# भारत की अन्तरात्मा

# भारत की अन्तरात्मा

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्
उप-राष्ट्रपति, भारत

अनुवादक
विश्वम्भर नाथत्रिपाठी, एम० ए०, एम० एड०

१९५६
दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ

प्रथम हिन्दी संस्करण १९५३
पुनर्मुद्रण १९५६

मोनोटाइप १२ पॉइंट में
अशोक प्रेस, लखनऊ ने कम्पोज किया;
साहित्य मन्दिर प्रेस, पवन प्रेस और भार्गव प्रेस लखनऊ ने मुद्रण किया

# प्राक्कथन

दो-तीन वर्ष पहले मैंने डा० श्री राधाकृष्णन् की एक अंग्रेजी-पुस्तक Freedom and Culture का हिन्दी रूपान्तर 'स्वतंत्रता और संस्कृति' नाम से किया था। हिन्दी-पाठकों ने उसे बहुत पसन्द किया है ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि इस थोड़े काल में ही उसका प्रथम संस्करण प्रायः समाप्त हो गया है। अतः हिन्दी-भाषी पाठकों के सम्मुख उनकी अमर लेखनी से निसृत एक और ग्रन्थ-रत्न रखने को प्रोत्साहित हुआ हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक Heart of Hindusthan नामक अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। इसमें भारतीय संस्कृति के मूल आधारों का, उसकी अन्तरात्मा का, संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट विवेचन है। विद्वान् लेखक ने भिन्न-भिन्न अवसरों पर हमारी सस्कृति के मार्मिक स्थलों का जो स्पष्टीकरण विभिन्न लेखों में किया है यह उनका ही संग्रह है। इन्हें पढ़कर हमें भारत की सभ्यता के प्रमुख सिद्धान्तों का ही केवल ज्ञान नहीं होता प्रत्युत् एक सरस, लोकोत्तर आनन्ददायिनी साहित्यिक रचना के पाठ का सुख भी मिलता है। आशा एवं विश्वास है कि विज्ञ एवं सहृदय पाठक इसका भी स्वागत 'स्वतंत्रता और संस्कृति' के समान ही करेंगे।

लखनऊ,
अगस्त ६, १९५३

**विश्वम्भर नाथ त्रिपाठी**

# विषय-सूची


| अध्याय | | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १. हिन्दू-धर्म की अन्तरात्मा | ... | ६ |
| २. हिन्दू-धर्म | ... | ३७ |
| ३. ईश्वर के सम्बन्ध में हिन्दू-मत | ... | ६९ |
| ४. इस्लाम और भारतीय विचार-धारा | ... | ७६ |
| ५. हिन्दू-मत और ईसाई-धर्म | ... | १०४ |
| ६. बौद्ध-धर्म | ... | १४२ |
| ७. भारतीय दर्शन | ... | १५१ |

# १

# हिन्दू-धर्म की अन्तरात्मा

इस निबन्ध में मैं हिन्दू-धर्म के मुख्य-मुख्य अंगों का वर्णनमात्र कर देना चाहता हूँ जिससे संक्षेप में हिन्दुओं के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का, उनकी धार्मिक अनुभूति का, उनके आचरणशास्त्र एवं विश्वास-परम्परा का, यथायथ दिग्दर्शन हो जाय, उसकी वकालत करना अथवा उसके समर्थन में कुछ कहना हमें अभीष्ट नहीं।

**दार्शनिक आधार.** तर्क-प्रेम हिन्दू-धर्म की विशेषता है। भारतीय विद्वान् अपनी स्वप्निल आशाओं एवं व्यावहारिक आत्म-विसर्जन में, सरलतम दुराग्रह एवं उच्चतम काल्पनिक उड़ान में, चार-पांच हजार वर्ष के अनवरत दार्शनिक एवं धार्मिक प्रयत्न में, सत्य-भक्ति तथा यथार्थ प्रेम की भावना से प्रेरित होकर चरम समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करते रहे हैं। इसे ब्राह्मण-सभ्यता कहते हैं क्योंकि इसका संचालन उन ब्राह्मणों के हाथ में था जो किसी बात का निर्णय करते समय मनःक्षोभों से विचलित नहीं होते थे एवं जिनके सिद्धान्तों की आधार-शिला सच्ची अनुभूति होती थी।

जगत् की जिस विशेषता ने हिन्दू-दार्शनिकों को सत्य के अनुसन्धान की ओर आकृष्ट किया, वह है इसकी अनित्यता। उन्होंने देखा कि दृश्य जगत् विरामहीन परिवर्तन का शिकार है। उन्होंने प्रश्न किया—क्या यह अनित्यता, विनश्वरता, ही चरम-सत्य है अथवा इस विनाश की भी कोई सीमा कहीं है? उन्हें उत्तर मिला—जगत् में एक ऐसी वस्तु भी है जो नित्य है, वह है अविनाशी, अन्य-अपेक्षा-रहित परब्रह्म। हम सबके जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब इस अनन्तता की अनुभूति हम करते हैं, जब हमें इस महान् रहस्य का आभास मिलता है और जब हम उस परमात्मा के सान्निध्य का बोध करते हैं जो अपनी महत्ता से हमें आच्छन्न किये है। जीवन की उन शोकपूर्ण घड़ियों में भी जब हमें प्रतीत होता है कि हम एकान्त, दीन, परम अनाथ हैं, हमारे हृदय में स्थित परमात्मा हमें बराबर यह अनुभव कराता है कि ये सांसारिक दुःख-दैन्य तो उस बड़े नाटक की क्षुद्र घटनाएँमात्र हैं जिसका अन्त शक्ति, सौन्दर्य एवं प्रेम में होगा। उपनिषद् चिल्ला-चिल्ला कर कहते हैं—"यदि इस विश्व में आनन्द न होता तो यहाँ कोई जीव प्राण-धारण ही कैसे करता?" तात्त्विक दृष्टि से देखने पर यह व्यक्त जगत् उसी एक अविभक्त ब्रह्म की नाना रूपों में अभिव्यक्ति है; उस ब्रह्म की अभिव्यक्ति जो समस्त सृष्टि का नित्य आधार एवं पृष्ठभूमि है। धार्मिक दृष्टि से देखने पर यह परमेश्वर की आत्म-चेतना बन जाता है जो समस्त सृष्टि के उद्भव तथा लय से युक्त है। उसके सम्पूर्ण दीर्घ-जीवन में एकेश्वरवाद ही हिन्दू-धर्म का प्रमुख आदर्श रहा है। ऋग्वेद उस एक ही परमात्मा की बात करता है—एकम् सत्—जिसका वर्णन पंडित लोग नाना रूपों में किया करते हैं। उपनिषदों का कहना है कि अभिव्यक्ति के

स्तर के अनुसार एक ही ब्रह्म को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। त्रिमूर्ति की कल्पना का उदय महाकाव्यकाल में हुआ और पुराण काल तक वह भली भाँति प्रतिष्ठित हो गई। मानव-चेतना के ज्ञान, मनःक्षोभ एवं चेष्टा व्यंजक तीन गुणों का ही सूचक सत् चित् आनन्द परमात्मा का नाम रखा गया है। सत्व अथवा ज्ञानजात अव्यग्रता, रजस् अथवा वह शक्ति जो उत्साह से उत्पन्न होती है, तमस् अथवा वह शैथिल्य जो ज्ञान अथवा संयम के अभाव का फल है—यही वे तीन गुण हैं जो समस्त सृष्टि में पाये जाते हैं और सर्व-वस्तु-व्यापक इन तीन गुणों से ईश्वर भी मुक्त नहीं समझा जाता। सृष्टि, स्थिति एवं लय की तीनों क्रियाएँ रजस्, सत्व एवं तमस् के ही कारण होती हैं। विश्व के रक्षक विष्णु परमात्मा का ही सत्व-प्रधान रूप हैं। सृष्टिकर्ता ब्रह्म उसी ईश्वर के रजःप्रधान, एव सृष्टि-संहारक शिव उसी ईश्वर के तमःप्रधान रूप के द्योतक हैं। एक ही ईश्वर के तीन गुणों को विकसित करके तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति बना दिये गये हैं। और इनमें से प्रत्येक अपनी ही विशिष्ट शक्ति से कार्य करता है, अतएव ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के ही समान सरस्वती, लक्ष्मी, उमा तथा उनकी शक्तियों की कल्पना कर ली गई। सच तो यह है कि ये सभी गुण एवं कार्य एक ही परमात्मा में इस प्रकार साम्यावस्था में स्थित हैं कि यह भी कहा जा सकता है कि उसमें कोई गुण ही नहीं है, वह निर्गुण है।* एक ही अज्ञेय ईश्वर, जो सर्वविद्, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान् है। नाना जनों को नाना

रजोगुणः स्मृतो ब्रह्मा, विष्णुः सत्व गुणात्मकः।
तमो गुण स्तथा रुद्रो, निर्गुणः परमेश्वरः॥

प्रकार का प्रतीत होता है।* एक प्राचीन धर्मवाक्य का कथन है कि साधकों की सुविधा के लिए ही निराकार परमात्मा को साकार कल्पित कर लिया गया है।

दार्शनिक मनोवृत्ति का जो सहज गुण उदार मति है, उसी की प्रेरणा से अनुयायियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दू लोग सम्प्रदायों की आपेक्षिकता में विश्वास करते हैं। धर्म तो अव्यक्त-सम्बन्धी कोई सिद्धान्तमात्र नहीं है जिसे जब चाहा मानने लगे और जब इच्छा बदली तो दूर हटा दिया। वह तो जाति के आध्यात्मिक अनुभवों का प्रकटरूप है, उसके सामाजिक विकास का इतिहास है, एक समाज विशेष का अविच्छेद्य घटकावयव है। भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी बनें, यह तो बिलकुल स्वाभाविक ही है। धर्म तो अपने स्वभाव एव रुचि का प्रश्न है--'रुचीनाम् वैचित्र्यात्'। जब आर्य लोग यहाँ के उन मूल निवासियों से मिले जो भाँति-भाँति के देवताओं की पूजा करते थे तो उन्होने एकाएक उनके मतों को दबा देने की बात नहीं सोची। आखिर सभी लोग उसी एक परमात्मा की तलाश में हैं। भगवद्गीता का कथन है कि यदि कोई उपासक भगवान् के श्रेष्ठतम स्वरूप तक नहीं भी पहुँच सका है तो भी वे उसकी प्रार्थना को अस्वीकार नहीं करते। एक मत को परित्याग कर शीघ्रतापूर्वक दूसरे को अंगीकार करने की कोशिश में हम अतीत से बहुत दूर जा पड़ते हैं, फलत: अव्यवस्था एवं अनवस्था का सामना करना पड़ता है। संसार के महान् उपदेशक, जिन्हें इतिहास का यथेष्ठ ज्ञान है, अपने विचारों को उन लोगों पर जबरन लादकर,

* तुलना करो--बाइबिल-साम-१८-२५, २६

जो न तो उन्हें समझते ही हैं और न पसन्द ही करते हैं, अपनी ही पीढ़ी में संसार का सुधार कर डालने का प्रयास नहीं करते। विवाह-विच्छेद के लिए सर्वोच्च आदर्श की दृष्टि से जितना कुछ चाहिए मूसा ने यहूदियों से उससे कम को ही न्यायत; पाकर सन्तोष कर लिया और ईसा-जैसे कठोर आचरण-शास्त्री ने भी पर्याय से उसका समर्थन किया। वह इसीलिए कि लोगों के हृदय सख्त, सुधार-विरोधी होते हैं। मार्क (१०. ११…), लूक (१६. १८) के दृढ़ आग्रह से युक्त शब्दों को देखिये और फिर मैथ्यू (५. ३२ एवं १४. ६) के अपवाद-वाक्यों की ओर ध्यान दीजिए। हिन्दू-दार्शनिक यद्यपि स्वयं परमोच्च आदर्श का पालन करते थे किन्तु फिर भी उन्हें पता था कि जनसाधारण उसके लिए तैयार नहीं हैं और इसलिए बड़ी सावधानी से वे उनका विकास करने में लग गये, उन पर बर्बर बल-प्रयोग नहीं किया। अज्ञान के कारण जिन निम्न श्रेणी के देवताओं के लोक में उपासना हो रही थी, उन्हें भी उन लोगों ने स्वीकार कर लिया। केवल इतना कहा कि वे सब उसी एक परम महान् ईश्वर के अधीन हैं।* "कुछ लोगों के देवता जल में, कुछ के स्वर्ग में, कुछ के सांसारिक पदार्थों में पाये जाते हैं, पर विद्वान् अपने सच्चे परमात्मा को, जिसकी महत्ता सर्वत्र प्रगट हो रही है, अपनी आत्मा में ही पाते हैं।" एक और श्लोक है—†"कर्मशील व्यक्ति का ईश्वर अग्नि

* अप्सु देवा मनुष्याणां, दिवि देवा मनीषिणाम्
बालाना काष्टलोष्टेषु, बुद्धास्त्वात्मनि देवता:

† अग्नौ कृत्यवतो देवो, हृदि देवो मनीषिणाम्
प्रतिभास्वोल्पल बुद्धीनाम्, ज्ञानिनां सर्वतः शिवः—देखिए भगवानदास—वैदिक धर्म, उसमें अनेक उपयुक्त उद्धरण मिलेंगे।

में, भावुक का भगवान् हृदय में, मन्द बुद्धि का मूर्ति में एवं ज्ञानी का परमात्मा सर्वत्र ही निवास करता है।"

हिन्दू-धर्म तथा दर्शन मानता है कि समय-समय पर आनेवाले सृष्टि एवं प्रलय के चक्र उस एक ही विश्व-हृदय के स्फुरण तथा संकोचन के प्रतीक हैं जो सदा ही निष्क्रिय तथा सदा ही सक्रिय रहता है। समस्त संसार ईश्वर का व्यक्त स्वरूप है। सायण का कहना है कि समस्त पदार्थ परमात्मा के आविर्भाव के उपाधेयमात्र हैं।* ये पदार्थ भिन्न वर्गों में विभक्त किये गये हैं। "इनमें से जो सांस लेते हैं वे श्रेष्ठ हैं; उनमें भी वे श्रेष्ठ हैं जिनके मस्तिष्क विकसित हैं; उनमें वे श्रेष्ठ हैं जो ज्ञान का प्रयोग करते हैं और सर्वश्रेष्ठ वे हैं जिन्होंने प्राणिमात्र में ब्रह्म की एकता का अनुभव कर लिया है।† एक ही मूल आत्मा इन नाना रूपों में अभियुक्त हो रही है।

मनुष्य के भीतर जो अनन्त है वह सान्त संसार के नाशमान् रूप से सन्तुष्ट नहीं होता। हमारे दुःखों का कारण यह है कि हम अपने भीतर ईश्वर को नहीं देख पाते। हममें जो सान्त एवं अनित्य है यदि हम उससे बचे रह सकें तो मुक्ति पा सकते हैं। जीवन में जितना ही अधिक हम अपने भीतर स्थित अनन्त को व्यक्त कर सकेंगे, पदार्थों की श्रेणी में हमारा स्थान उतना ही उच्च होगा। बहुत प्रबल अभिव्यक्तियाँ ही अवतार कहलाती हैं। अवतार कोई अद्भुत,चमत्कारपूर्ण ईश्वर का संसार में प्रकट होना नहीं है, वे तो

* परमात्मनः सर्वेऽपि पदार्थाः आविर्भावोपाधेयाः

† मनु, १

उसी महान् शक्ति की उच्च अभिव्यक्तियाँमात्र हैं जिनका सामान्य अभिव्यक्तियों से केवल मात्रा में भेद है। गीता का वचन है कि यद्यपि ईश्वर सभी में है पर वह विशेषरूप में उसी पदार्थ में व्यक्त होता है जिसमें महत्ता पाई जाती है। ऋषि, बुद्ध, पैग़म्बर, ईसा आदि उसी विश्वात्मा की प्रबल अभिव्यक्तियाँ हैं। गीता का कहना है कि आवश्यकता पड़ने पर वे सदा ही प्रगट होती रहेंगी। हमारे जीवन में जब पतन की ओर ले जानेवाली भौतिक मनोवृत्ति की प्रबलता होती है तो धर्म का पुनः संस्थापन करने के लिए कोई राम अथवा कृष्ण, बुद्ध अथवा ईसा हमारे बीच अवश्य आ जाता है। इन पुरुषों में—जो इन्द्रियों पर विजय पा लेते हैं, जो प्रेम को सर्वत्र बिखेर देते हैं और जो हममें सत्य एवं धर्म के प्रति स्नेह भर देते हैं—ईश्वर की शक्ति घनीभूत हो गई है। वे हमें सच्चे मार्ग, जीवन तथा सत्य का दर्शन कराते हैं। वे अपनी अन्ध-पूजा भी नहीं करने देते क्योंकि उससे आत्मसाक्षात्कार में कुछ बाधा पड़ती है। रामचन्द्रजी ने अपने को साधारण मनुष्य से अधिक कहकर नहीं प्रचारित किया—"आत्मानम् मानुषम् मन्ये, रामं दशरथात्मजम्"। जिस हिन्दू को अपने धर्म का कुछ भी ज्ञान है वह उन सबकी श्रद्धा और भक्ति करता है जो लोक-कल्याण में लगे हैं। उसका विश्वास है कि ईश्वर किसी भी मनुष्य के रूप में अवतरित हो सकता है जैसे ईसा और बुद्ध में हुआ था। यदि ईसाई इस बात को मान लें कि बिना ईसा की मध्यस्थता के भी मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है तथा ईश्वर-साक्षात्कार हो सकता है तो ईसाई-धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों को हिन्दू सहर्ष स्वीकार कर लेगा। ईश्वर की अभिव्यक्ति से मनुष्य के व्यक्तित्व का उल्लंघन नहीं होता प्रत्युत् वह तो मनुष्य के

नैसर्गिक आत्म-प्रकाशन का उच्चतम स्वरूप है क्योंकि मनुष्य का सच्चा रूप तो अलौकिक ही है। मानव-अस्तित्व में अन्तर्निहित अनन्त की क्रमिक अभिव्यक्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है। इसकी सामान्य गति नैतिक कारणता अथवा कर्म-विपाक के सिद्धान्त पर निर्भर है। हिन्दू-धर्म एक ऐसे परमात्मा में विश्वास नहीं करता जो अपने सिंहासन पर बैठा-बैठा प्रत्येक व्यक्ति को जाँचता है और तब उसके सम्बन्ध में उचित निर्णय देता है। दूर बैठकर मनमानी रीति से किसी के दण्ड में वृद्धि करके तथा किसी में कमी करके वह न्याय का विधान नहीं किया करता। ईश्वर मनुष्य में ही है, अतएव कर्म-विपाक का सिद्धान्त उसके लिए सर्वथा स्वाभाविक है। प्रत्येक क्षण मनुष्य की परीक्षा हो रही है। उसका प्रत्येक निश्छल प्रयत्न उसके अनन्त प्रयास में सहायक होगा। हम जिस स्वभाव का सृजन करते हैं वह आगे भी तब तक बना रहेगा जब तक कि हम परमात्मा के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव नहीं कर लेते। हम उस परमात्मा की सन्तान हैं जिसके लिए एक हज़ार वर्ष एक दिन के बराबर हैं। अतः यदि एक जीवन में पूर्णता न भी प्राप्त हो सके तो हमें हताश नहीं होना चाहिए। सभी हिन्दू पुनर्जन्म मानते हैं। संसार का अस्तित्व हमारी ग़लतियों के कारण है। सृष्ट-चक्र के चलते रहने में कारण हमारे वे ही गत जीवन हुआ करते हैं जिनके लिए पुनर्जन्म आवश्यक है। भूत में असंख्य बार विश्व की सृष्टि एवं संहार हो चुका है और भविष्य में अनन्त काल तक बराबर इसी प्रकार उसका उद्भव तथा लय होता रहेगा।

**धार्मिक अनुभूति.** धर्म यह प्रयत्न करता है कि मनुष्य को अपने देवत्व का ज्ञान करा दे, केवल कोरा बौद्धिक ज्ञान देकर नहीं

किन्तु उससे तादात्म्य की अनुभूति कराकर। इस अनुभूति के लिए किसी विशिष्ट मार्ग का निर्देश नहीं किया जा सकता। मनुष्य की आत्मा अनन्त-स्वभावा है, अतः उसकी शक्ति-सम्भावनाएँ भी अनन्त हैं। उसका ज्ञेय परमात्मा भी उसी भाँति अनन्त है। असीम परिस्थिति के प्रति अनन्त आत्मा की प्रतिक्रियाएँ सीमित नहीं की जा सकतीं। हिन्दू-दार्शनिकों का विश्वास है कि अनन्तरूप जीवन को थोड़े-से बँधे हुए रूपों में समेटकर नहीं रखा जा सकता। एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का वचन है—"जिस प्रकार आकाश में उड़नेवाली चिड़ियाँ तथा समुद्र में तैरनेवाली मछलियाँ अपने मार्ग में कोई चिह्न नहीं छोड़तीं, ठीक वैसे ही भगवत्प्राप्ति के पथ पर आत्म-साक्षात्कार-रसिक अग्रसर होते हैं।"* उपनिषदों के ऋषियों ने, यहूदी पैग़म्बरों ने तथा धर्म-संस्थापकों ने परमात्मा का शब्द सुना है, उसके सान्निध्य की अनुभूति की है। ईश्वर अपने भक्तों के प्रति सदा ही न्यायपूर्ण, पक्षपातरहित व्यवहार करता है; वे उसे चाहे जिस नाम से पुकारें एवं उसकी उपासना के लिए चाहे जिस सरणि का उपयोग करें। गीता में भगवान् का वचन है—"जो कोई जिस किसी रूप में मेरे पास आता है मैं उसी रूप में अवश्य उसको मिलता हूँ।"

मानव-चेतना के त्रिविधिरूप के आधार पर ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग एवं कर्म-मार्ग के विभाग किये गये हैं। ज्ञान, अनुभूति तथा चेष्टा कोई तीन भिन्न-भिन शक्तियाँ नहीं हैं, वे तो एक ही अनुभव

* इस सम्बन्ध में हमारे 'भारतीय दर्शन' नामक ग्रन्थ का गीता-विषयक अध्याय देखिये।

के तीन दृष्टिकोण हैं। तीनों ही अपना-अपना अंश उसकी पूर्ति में देते हैं एवं सभी एक-दूसरे में व्याप्त हैं। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् इच्छा, सम्यक् क्रिया ये तीनों ही एक साथ रहते हैं। पहला हमें सत्य का दर्शन कराता है, दूसरा उसमें अनुराग उत्पन्न कराता है एवं तीसरा हमें जीवन की रचना में लगाता है। भावना की उष्णता से हीन कोरा ज्ञान हृदय को हिम के समान शीतल कर देता है। ज्ञान से अप्रकाशित कोरी भावुकता पागलपन है। जिस कर्म को ज्ञान का पथ-प्रदर्शन तथा स्नेह की स्फूर्ति नहीं मिलती उसे अर्थहीन संस्कार-पद्धति अथवा उन्मुक्त चंचलता ही समझना चाहिए। पूर्ण जीवन की संश्लिष्ट अनुभूति में तीनों ही सम्मिलित हैं। भिन्न-भिन्न पुरुष भिन्न-भिन्न अंगों पर विशेष बल देते हैं, अतएव जीवन-समस्या को वे भिन्न-भिन्न मार्गों से सुलझाने का प्रयास करते हैं।

गीता का वचन है कि "ज्ञान के समान पूर्ति-विधायक और कुछ नहीं है।" यह ज्ञान उसी विवेचना का नाम है जिसे यथार्थ आत्म-ज्ञानी सनत्कुमार तथा शुष्क पाण्डित्य के प्रतिनिधि नारद के उपनिषत्प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में कोरी बकवास कहकर उड़ा दिया गया है। मनुष्य की मूल प्रकृति तो आत्म-स्वातंत्र्य एवं ज्ञान है। अपनी परिच्छिन्नता के कारण हम अपने सत्य-स्वरूप से अनभिज्ञ रहकर भ्रम में पड़े रहते हैं। तर्कशास्त्र का मुख्य कार्य यह बताना नहीं है कि मनुष्य को ज्ञान क्यों अथवा कैसे होता है, वरन् यह बताना है कि वह क्यों अथवा कैसे ज्ञान-प्रक्रिया में असफल होता है। भूल का कारण हमारा सीमिति ज्ञान है। सत्य का प्रत्यक्ष करके इन सीमाओं को ध्वस्त करना ही मानसिक विकास कहलाता है। भाव अथवा संकेत पर निर्भर न रहनेवाला यह ज्ञान सत्य में ही निवास करता

है। विचार एवं तर्क ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। गीता युक्तिपूर्ण आन्तरिक सूझ पर ज़ोर देती है—ज्ञानम् विज्ञान सहितम्। बौद्धिक सहारे के बिना सम्भव है हमारी आन्तरिक सूझ व्यक्तिगत भावुकता ही रह जाय। इस रक्षक वाक्य में गीताकार का यह संकेत पाया जाता है कि सत्य की प्रत्यक्षानुभूति में सार्वभौमिकता रहती है। यह प्रत्यक्षानुभूति हमें विनम्रता की भावना से प्राप्त हो सकती है। यदि हम बौद्धिक अहंकार का परित्याग कर दें तथा जिज्ञासु भाव को अपना लें तो स्वर्गीय वायु के झोंके हम तक पहुँच सकते हैं। योगाभ्यास मन को इस योग्य बनाता है कि वह आभ्यन्तरिक निस्तब्धता के गम्भीर घोष को सुन सके। तब हम अपनी आत्मा से, विश्वात्मा से, तादात्म्य का अनुभव कर सकते हैं।

ईश्वर-साक्षात्कार के लिए ज्ञान-मार्ग बहुत ही मन्द गति एवं कष्टपूर्ण है। "इस समस्त विश्व के रचयिता एवं पिता को प्राप्त करना बहुत कठिन है तथा उसे पाकर सबको बताना तो असम्भव ही है।"* हमारी आयु इतनी छोटी होती है एवं अन्वेषण की गति इतनी धीमी! हम खाली बैठकर प्रतीक्षा नहीं कर सकते। हमें जानने की जल्दी है। हम किसी ऐसे धर्म को स्वीकार कर लेना चाहते हैं जो हमारे जीवन का सहारा बन सके, जो सन्देह-भावना से हमारी रक्षा कर सके एवं व्यावहारिक जीवन में हमारा सहायक हो सके। ईश्वर-साक्षात्कार के लिए लोगों की अधीरता उन नीम-हकीमों को अपना जाल बिछाने का मौक़ा देती है जो अपने अनुयायियों को अल्प काल में ही मोक्ष प्राप्त करा देने का वादा किया

* प्लेटो—टिमियस २९

करते हैं। अन्ध-विश्वास तथा जादू जनसाधारण का सम्बल बन गया है। ब्राह्मण-व्यवस्था में बुद्धि का पूर्ण परित्याग किसी दशा में भी नहीं किया गया है। सत्य की भावना ही लोक-जीवन का नियन्त्रण करती है। ऊँचे-से-ऊँचे दार्शनिक सत्य को साधारण बुद्धि के मनुष्यों की समझ में अपने योग्य कथा-कहानियों का रूप दे दिया गया है जिससे "सभी सुगमतापूर्वक जीवन के कठिन स्थलों को पार कर जायँ, सभी आनन्द प्राप्त कर सकें, सभी सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि कर सकें एवं सभी सर्वत्र सुख-भोग कर सकें।"* पुराणों के उपाख्यान मन्द-बुद्धि-पुरुषों को चरम कल्याण का ज्ञान देकर उसमें उनकी रुचि उत्पन्न करते हैं तथा उनके आत्म-विकास में सहायता प्रदान करते हैं।

उपासना के जितने रूप देश में प्रचलित थे, हिन्दू-दार्शनिकों ने उन सबको ही स्वीकार कर लिया तथा उन्हें इस प्रकार क्रमबद्ध कर दिया कि वे क्रमशः ईश्वराराधन के श्रेष्ठतम रूप तक पहुँच जायँ, उस रूप तक पहुँच जायँ जो ईश्वर के निकट साहचर्य की अनुभूति का अभ्यास करता है। शिव-पुराण में लिखा है—† "उत्तमावस्था तो सहजावस्था है, दूसरी श्रेणी की अवस्था ध्यान एवं

* सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु
सर्व स्तद् बुद्धिमाप्नोतु, सर्वस्सर्वत्र नन्दतु—भागवत पुराण।
स्पिनोज़ा के कथन से तुलना कीजिए—"परम कल्याण सार्वजनीन है तथा उसकी प्राप्ति सबको समानरूप से होना चाहिए।"

† उत्तमा सहजावस्था, द्वितीया ध्यान धारणा।
तृतीया प्रतिमा पूजा, होम यात्रा चतुर्थिका।।

धारणा है, तृतीय अवस्था प्रतिमा-पूजन है तथा चतुर्थ अवस्था तीर्थ-यात्रा तथा होम इत्यादि करने की है।" ऋग्वेद में मूर्ति-पूजा का नाम तक नहीं पाया जाता। अतः स्पष्ट है कि इसका प्रचार बाद में हुआ। सभी मानते हैं कि अविकसित-मस्तिष्क-मनुष्यों के लिए ही इसकी उद्भावना हुई है। मनुष्य में आदिम युग के, सभ्यता-पूर्व-काल के, अनेक चिह्न अब भी पाये जाते हैं। वह ईश्वर की कल्पना रंग-विरंगे चित्रों के रूप में करना पसन्द करता है। वह अपने मनोभावों को कला एवं संकेतों के द्वारा ही व्यक्त कर सकता है। वे सत्य को व्यक्त करने के लिए कितने ही अपर्याप्त क्यों न हों, जब तक मनुष्य के आत्म-साक्षात्कार में सहायक सिद्ध होते रहते हैं, लोग उन्हे सहन करते रहते हैं। जब तक वह ठीक दृष्टिकोण को व्यंजित करता रहता है तब तक किसी भी प्रतीक को तिरस्कृत नहीं करना चाहिए। प्रोफ़ेसर गिलबर्ट मरे ने "ग्रीक धर्म की चार अवस्थाएँ" नामक ग्रन्थ में टायर-निवासी मैक्सिमस के लेख का उद्धरण दिया है जो मूर्ति-पूजा का बड़ा ही सुन्दर समर्थन है। उस उद्धरण में प्रतीकोपासना के सम्बन्ध में हिन्दू-भावना का निचोड़ आ गया है—"उस ईश्वर की, जो सबका सृष्टा तथा पिता है, जो सूर्य एवं आकाश से भी प्राचीन है, जो काल, अनन्तता तथा समस्त सत्ता प्रवाह से भी महान् है, किसी भी शास्त्री के द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती; वह वाणी के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता; आँखों के द्वारा देखा नहीं जा सकता।" अतएव उसके सच्चे स्वरूप को समझने में अक्षम होने के कारण हम शब्दों की, नामों की, हाथी दाँत, चाँदी तथा सोने से निर्मित प्रतिमाओं की, वृक्ष तथा नदियों की, पर्वत, शिखर तथा निर्झरों की सहायता लेते हैं एवं उसके ज्ञान की तीव्र

जिज्ञासा हृदय में लेकर संसार में जहाँ भी जो कुछ सुन्दर देखते हैं उसी को उसका रूप कहकर प्रचार करने लगते हैं, ठीक वैसे ही जैसे लौकिक प्रेमी। प्रेमी की दृष्टि में संसार का सुन्दरतम पदार्थ उसकी प्रेमिका ही है किन्तु उसकी स्मृति जगाने की क्षमता रखने के कारण वह वीणा, माला, कुरसी, क्रीड़ा-भूमि अथवा किसी भी अन्य स्मृति-चिह्न को देखकर आनन्द से भर उठता है। अधिक विवेचना करके प्रतिमाओं के विषय में कोई निर्णय करने के झमेले में हम क्यों पड़ें! आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि मनुष्य को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाय और बस। यदि ग्रीक को फ़िडियस की कला, मिस्र-निवासी को पशु-पूजा, किसी को आग एवं किसी को नदी ही ईश्वर का स्मरण कराती है तो उनकी इस भिन्नता से नाराज़ होने की क्या ज़रूरत! "आवश्यकता तो केवल इस बात की है कि वे भगवान् को जानें, उसमें अनुरक्त हों और उसको कभी न भूलें।"* कितने सत्य, उदार एवं कोमल शब्द हैं पर उत्साहहीन, दुराहग्रह एवं साम्प्रदायिक प्रवंचना की ही बातें सुनते रहने के अभ्यासी हमारे कानों में ये कुछ खटकते-से हैं। यदि हम प्रतिमा की लाक्षणिकता को भुला दें और रूपक को अक्षरशः सत्य मान लें तो हमारे जिज्ञास्य परमात्मा का ठीक उलटा रूप हमारे सामने आयेगा। विचारशील भारतवासी यह कभी नहीं भूलता कि मूर्ति-पूजा केवल साधन है। योगी भगवान् का दर्शन आत्मा में करता है, प्रतिमाओं में नहीं।†

* पृष्ठ १३६-१३७

† शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः

निम्नकोटि की उपासना को आवश्यक मानकर, उसी प्रकार जैसे शिशुओं के लिए दूध एवं प्रौढ़ों के लिए मांस-भोजन की व्यवस्था की जाती है, हिन्दू-धर्म ने एक ऐसे धार्मिक वातावरण का विकास किया है जिसमें एक ओर सर्वोच्च दार्शनिक ज्ञान पाया जाता है और दूसरी ओर प्रतीकोपासना का वह विधान जिसको केन्द्र मानकर महान् कलापूर्ण सौन्दर्य की सृष्टि की गई है। उसमें भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक विकास एवं धार्मिक ज्ञान से युक्त मनुष्यों की सभी श्रेणियों के लिए स्थान है। हिन्दू-घर में उपासना के विशुद्धतम रूप के साथ ही बालकों के लिए सामान्य बाह्य साधना का प्रबन्ध भी है। प्रौढ़ हो जाने से यदि हमें खिलौनों की जरूरत नहीं रह गई तो इसी लिए खिलौने तोड़कर बच्चों का जी दुखाने में बुद्धिमानी नहीं।

भावुक पुरुष ईश्वर को पूर्ण सौन्दर्य अथवा प्रेम मानते हैं तथा उसके साहचर्यजनित आनन्द में डूब जाने की कामना करते हैं। प्रेम तथा सौन्दर्य रूपी भगवान् के प्रतीक कृष्ण हैं एवं सहृदय भावुक पुरुषों, विशेषतः स्त्रियों, के लिए उनमें प्रबल आकर्षण है। एक हृदय-स्पर्शी लोक गीत है—"उनकी वंशी बुला रही है, मुझे जाना ही होगा। यद्यपि गहन कंटकाकीर्ण बन में होकर जाना है फिर भी मैं अवश्य जाऊँगी।" जब अनुल्लंघ्य आज्ञा मिलती है तो कोई भी सहृदय व्यक्ति कैसे उसकी अवहेलना कर सकता है! सौन्दर्यप्रेमी को प्रबल भावुकता में ही पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो जाता है। सौन्दर्य का अस्तित्व ही सौन्दर्य का समर्थन है। भक्त तो भगवान् के चरणों में लोट जाता है और संसार का कोई आकर्षण उसे वहाँ से हटाने की क्षमता नहीं रखता। तुकाराम कहते हैं—"मैंने तुम्हारे चरणों को पकड़ लिया है, अब मैं उन्हें छोड़ूँगा नहीं·········मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा,

चाहे तुम सारा संसार ही मुझे बदले में क्यों न दे दो।" चैतन्य का कहना है—"मैं धन नहीं माँगता, जन नहीं माँगता, सुन्दर स्त्रियाँ अथवा काव्य-प्रतिभा नहीं माँगता। हे संसार के प्रभो! मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि प्रत्येक जन्म में मैं तुम्हारा भक्ति पाता रहूँ।" हिन्दू-दार्शनिकों ने सदा ही यह प्रयत्न किया है कि निर्मल चरित्र का अभ्यास एवं सत्य-प्रेम धार्मिक भक्ति से दब न जायँ। उन्हें अच्छी तरह मालूम है कि हमारी भावनाएँ शष जीवन से अलग अन्य अपेक्षा-रहित नहीं हो सकतीं। अलग से देखन पर उनका कोई नैतिक महत्त्व नहीं। किसी भी भावना का महत्त्व तो उसकी मूल प्रेरणा पर निर्भर करता है; हमें यह देखना होता है कि वह उच्च आध्यात्मिक भक्ति का फल है अथवा नीच विषय-वासना का परिणाम। भक्ति-मार्ग का यह सिद्धान्त नहीं है कि सभी भावनाएँ पवित्र होती हैं। सच्ची धार्मिक भक्ति तो उस विवेकजात विनम्रता को कहते हैं जो सब कुछ ईश्वर के सहारे छोड़ देने पर उत्पन्न होती है। ज्ञान-सूचक इस भावना के फल-स्वरूप भक्त मानव-सेवा में जीवन उत्सर्ग कर देता है। उपासना, संगीत एवं कला भक्ति के विकासक हैं।

कर्मयोगी कर्म अथवा स्वकर्तव्य पालन करके तथा यज्ञ अथवा समाज-सेवा करके मोक्ष लाभ करने का प्रयास करता है। स्वतंत्रता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है; आत्म-ज्ञान के अवरुद्ध होने से बन्धन उत्पन्न होते हैं। जब हम अपनी दासता को ही प्यार करने लगें तो समझना चाहिए कि हमारी दासता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी है। शेष संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाली स्वार्थ-प्राचीर को यदि हम तोड़ सकें तथा उदात्त आदर्श का अपना सकें तो हम क्रमशः उस प्रेम का विकास कर सकते हैं जो भय, घृणा एवं कटुता का विनाश

करता है। यंत्र की तरह नीति-धर्म का पालन करनेमात्र से हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते। उस नीति को ईश्वरानुभूति का पुष्टिकर भोजन देकर सशक्त बनाना होगा। तभी हमें इस बात का अनुभव होगा कि प्रत्येक मनुष्य में केन्द्रीय सूर्य के अमर प्रकाश की किरण विद्यमान है। जब हम किसी व्यक्ति से प्रेम करते हैं तो परमात्मतत्त्व में अपनी तथा उसकी एकता का ज्ञान हमें होता है और उसी ज्ञान को अपने जीवन में हम क्रियात्मक रूप देते हैं। अब हम हिन्दू-धर्म की दूसरी विशेषता उसकी नैतिकता की ओर आते हैं।

**नैतिकता.** नैतिक आचरण का—सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का—उद्देश्य यह है कि उसे अपनी शक्तियों का पता चल जाय एवं अतीत के बन्धन तथा भविष्य के भयों से मुक्त होकर वह आत्म-विश्वास की दृढ़ता से खड़ा रह सके। ऐहिक जीवन का प्रत्येक क्षण मधुर प्रेम की भावना तथा ईश्वर के चिर सम्बन्ध की आनन्ददायिनी चेतना में बिताना ही नैतिक आचरण है। आदर्श पुरुष सदैव स्वर्गीय प्रकाश में जीवन-यापन करता है एवं सत्य, शुचिता, प्रेम तथा आत्म-विसर्जन के महान् गुण उसके जीवन में मूर्तरूप धारण करते हैं। प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य की विजय से नहीं वरन् वासनाओं के निरोध से ही उसकी नैतिक उन्नति को जाँचना चाहिए। गोलियों की बौछार में भी सच बोलना, शूली पर चढ़ा दिये जाने पर भी प्रतिहिंसा से विरत होना, मनुष्य तथा पशु सभी का सम्मान करना, सर्वस्व दान कर देना, परोपकार में जीवन उत्सर्ग कर देना, अत्याचार को अविचलित भाव से सहन करना आदि मनुष्य के प्रधान कर्तव्य हैं। हमारे आधुनिक व्यावहारिक सुधार भले ही उन्हें यह कहकर उड़ा दें कि वे ऊँची बातें हैं और मनुष्य-प्रकृति के दैनिक उपयोग के

अयोग्य हैं; बुद्धिहीन भारतीयों अथवा 'गैलीली' के धीवरों को सन्तोष देने के लिए वे प्रशंसनीय आदर्श हो सकते हैं, पर उनको व्यावहारिक रूप देना असम्भव है। हिन्दू-दार्शनिक जानते थे कि सामान्य लोक-प्रकृति एवं नैतिक आदर्श में महान् अन्तर है, अतएव उन्होंने शिक्षा एवं अभ्यास की एक ऐसी व्यवस्था बना दी जो मनुष्य को इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तैयार कर सके। संस्थाओं एवं संस्कारों का जाल, जो लोगों के चरित्र एवं नैतिक भावनाओं को विकसित करता है, 'धर्म' कहलाता है और वह हिन्दू-धर्म का एक विशेष अंग है। हिन्दू धर्म किसी को बलपूर्वक किसी मत विशेष में दीक्षित करने में विश्वास नहीं करता, पर सभी हिन्दुओं के व्यवस्था मानकर चलने पर अवश्य ज़ोर देता है। उसे धर्म की अपेक्षा संस्कृति कहना अधिक उपयुक्त होगा। "यदि तुम 'धर्म' का पालन करोगे तो तुम्हें सिद्धान्त अथवा सत्य का ज्ञान स्वतः हो जायगा।" यह 'धर्म' प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में स्थित मृतप्राय अग्नि को प्रज्वलित करने में सहायक होता है।

लोक-हृदय से अनुमोदित आचार-शास्त्र ही वह 'धर्म' है। किसी व्यक्ति विशेष का मन इसका विधान नहीं करता, अतः यह वैयक्तिक नहीं कहा जा सकता; क़ानून इसे मानने को विवश नहीं करता, अतः यह वाह्य भी नही कहला सकता। यह तो वह आचार-व्यवस्था है जिसका अनुमोदन लोकमत अथवा जनसाधारण का हृदय करता है। जर्मन इसे Sittlichkeit कहते हैं। 'फिष्टे' ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—"आचरण-सम्बन्धी वे नियम, जो लोगों के पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं एवं जो हमारी संस्कृति की वर्तमान दशा में आदत अथवा दूसरी प्रकृति हैं, इसी-

लिए हमारे अचेतन मस्तिष्क का अंग बन गये हैं।" 'धर्म' किसी को भी सदाचारी बनने को विवश नहीं करता, वह तो मनुष्यों को सदाचार-पालन का अभ्यास कराता है। वह अटल यांत्रिक नियमों का सग्रह नहीं है प्रत्युत् जीवधारी के सदृश है एवं समाज के विकास से प्रभावित होकर स्वयं भी बढ़ता चलता है। भारतवर्ष में तो राज्य भी धर्म का सेवक होता था। वह भी धर्म का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। उसका काम धर्म को बदलना अथवा रद्द करना नहीं था, वरन् उसके पालन की व्यवस्था करना था। राज-धर्म किसी दशा में भी लोगों की जीवनचर्या में अनुचित हस्तक्षेप नही करता था। चार हजार वर्ष से भी अधिक हो गये जब से भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों तथा वंशों के पारस्परिक युद्ध एवं राज-नीतिक कलह के बावजूद भी हमारा 'धर्म' अथवा सामाजिक जीवन उन्हीं सिद्धान्तो को मानकर चलता आ रहा है। यदि हम भारतीय जीवन की सप्राण अविच्छिन्न धारा देखना चाहते हैं तो उसका दर्शन हमें उसके राजनीतिक इतिहास में नहीं वरन् उसके सांस्कृतिक तथा सामाजिक जीवन में ही मिल सकता है। राजनीतिमयता का रोग तो उसे प्लासी के युद्ध के बाद ही लगा है। आज सम्पूर्ण जीवन राजनीति से ओत-प्रोत है। राज्य का समाज पर आक्रमण आरम्भ हो गया है और रवीन्द्रनाथ के शब्दों में 'बिना राष्ट्रों का भारत' अब पाश्चात्य अर्थ में उसके समस्त गुण-दोषों को लेकर एक 'राष्ट्र' बन जाने के प्रयास में संलग्न है।

'धर्म' के दो रूप होते हैं—एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। ये दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति की धर्म-भावना को एक पथ-दर्शक चाहिए एवं उसे यह सिखाने की आवश्यकता है कि उसका

उद्देश्य क्या है तथा किस प्रकार उसे इन्द्रियों का जीवन त्यागकर आध्यात्मिक जीवन पसन्द करना चाहिए। समाज के हित का भी समानरूप से ध्यान रखना है। सब प्राणियों को एक सामञ्जस्य-सूत्र में बाँध रखनेवाली शक्ति धर्म कहलाती है।* सामाजिक कल्याण का विधान करनेवाला आचरण ही पुण्य है, इसके प्रतिकूल आचरण को पाप कहते हैं। प्रायः जोर देकर कहा जाता है कि सबसे बड़ा पुण्य कर्म दूसरों के साथ वही व्यवहार करने में है जिस व्यवहार की आशा हम दूसरों से अपने लिए करते हैं। नित्य कर्मों में सामाजिक तथा वैयक्तिक दोनों ही प्रकार के कर्तव्यों का समावेश कर लिया गया है। नित्य कर्म निम्नलिखित हैं—शौचम् (शुद्धता), आचरम् (शिष्टाचार), पंच महायज्ञ (समाज-सेवा) तथा सन्ध्या-वन्दनम् (सन्ध्या तथा उपासना)। वैयक्तिक जीवन के अवस्था-विभाग एवं सामाजिक वर्गों के नियामक वर्णाश्रम धर्म में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। व्यक्ति का लक्ष्य सांसारिक सुख-प्राप्ति उतनी नहीं है जितनी आदर्श को प्राप्ति अपने उद्देश्य की सिद्ध है। इसकी प्राप्ति व्यक्ति की उस शिक्षा से ही सम्भव है जिसके लिए कष्ट उठाना होगा तथा संयम का पालन करना होगा। प्रत्येक मनुष्य की आयु को चार आश्रमो में बाँट दिया गया है। पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है। इस आश्रम में संयम, धैर्य, ब्रह्मचर्य तथा लोक-सेवा की भावनाएँ बालकों में परिपुष्ट कर दी जाती हैं। इस नियम का पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना पड़ता है, वह चाहे जिस वर्ग का हो, चाहे धनी हो चाहे निर्धन। दूसरा आश्रम गृहस्थाश्रम है। इस आश्रम में आने

* धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मेण वर्द्धिताः प्रजा

पर गृहस्थ-धर्म का पालन करना होता है। अब वह व्यक्ति किसी. सामाजिक सस्था का सदस्य बनता है एवं उस संस्था के अधिकार तथा कर्तव्य उसे स्वीकार करने पड़ते हैं। अपने सहचरों के साथ जिस बन्धन में हमें बँधना होता है उसके परिणामस्वरूप मानव-प्रकृति की कुछ मधुरतम आदतों का विकास ह ता है। इस समय आत्म-निर्भरता, मितव्ययिता एवं अतिथि-सत्कार का अभ्यास करना होता है। गृहस्थ का सम्मान सबसे अधिक होता है क्योंकि वही शेष तीन आश्रमों का आश्रयदाता है। वर्ण-नियम इसी आश्रम के लिए मान्य है। तीसरा आश्रम वाणप्रस्थ कहलाता है। इस समय व्यक्ति को सांसारिक सम्पत्ति से विरक्त होना पड़ता है, गृहस्थ-धर्म-पालन के परिणामस्वरूप जो गर्व अथवा अहंकार उत्पन्न हो गया है, जैसे कुल-गर्व, धन-गर्व, बुद्धि अथवा सौभाग्य गर्व, उसका निरोध करना पड़ता है तथा संन्यास का अभ्यास करना पड़ता है। जब वह उच्च जीवन के पूर्णतः योग्य हो जाता है तो संन्यास ले लेता है। संन्यासी मनुष्य-जाति का रागरहित सेवक होता है जो आत्म-शक्ति मे ही शान्ति का अनुभव करता है। अनन्त से पूर्ण सामंजस्य स्थापित हो जाता है और मनुष्य की शिक्षा का यही पर अवसान हो जाता है।

ये संन्यासी संसार को दुख-दैन्य में पड़ा छोड़कर अलग नहीं हो जाते। उनमें जो परम महान् हैं, जैसे बुद्ध तथा शंकर, रामानुज तथा रामानन्द एवं और भी अनेक, वे तो राष्ट्र के रक्त में ही प्रविष्ट हो गये हे तथा उन्होंने ही उसके धर्म की स्थापना की है। उनके नाम आज राष्ट्र की सबसे बड़ी पैतृक सम्पत्ति हैं।

वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध व्यक्तियोके सामाजिक वकर्तव्यों से है। मनुष्य का विकास तभी सम्भव है जब वह सामाजिक व्यस्था

के किसी विन्दु विशेष पर ही अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को केन्द्रित कर दे। चूंकि मनुष्यों में मानसिक जीवन के तीन अंगों में से किसी एक की ही विशिष्टता पाई जाती है, अतः द्विजों को तीन भागों में बाँट दिया गया है—विचार-प्रधान, भाव-प्रधान एवं क्रिया-प्रधान। जिनमें किसी भी गुण की विशेषता नही वे ही शूद्र हैं। चारों वर्णों की उपमा पंडितों, सैनिकों, औद्योगिकों एवं साधारण मजदूरों से दी जा सकती है जो सब एक ही संस्था के सदस्य हैं। ऋग्वैदिक प्राचीन काल में ही पारस्परिक अनुराग में बद्ध चारों वर्णोंके सूचक शिर, बाहु, कटि एव जंघा के रूपक के द्वारा सामाजिक एकता का आदर्श व्यक्त किया जा चुका था। इस 'सम्पूर्ण' में प्रत्येक वर्ण का उचित स्थान, अधिकार तथा कर्तव्य निश्चित कर दिया गया था। कर्ममात्र सम्मानपूर्ण समझा जाता था, अतः वर्ण-गर्व अथवा ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। वर्ण, अधिकार का नहीं उत्तरदायित्व का सूचक है। प्रत्येक व्यक्ति में सभी गुण विद्यमान हैं, केवल भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न गुणों की प्रबलता पाई जाती है। अपने कर्तव्य का पालन करके हम केवल 'सम्पूर्ण' का ही उपकार नहीं करते प्रत्युत् आत्म-प्रकाशन भी करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट प्रकृति उसके कर्म में ही पूर्णतः विकसित होती है और वह कर्म एक विशेष अर्थ में उसका अपना धर्म, स्वधर्म है।*

हिन्दू-धर्म का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण, प्रत्येक पुरुष

* यहाँ पर हमने इस विषय में कुछ नहीं लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था का ग्राम-शासन तथा व्यवसाय-संघ पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा इस संस्था के वर्तमान भ्रष्ट रूप को भी छोड़ दिया है।

को पैग़म्बर बनाना है। तभी उसको आन्तरिक स्वतंत्रता एवं आध्यात्मिक साहचर्य का आनन्द प्राप्त होता है और तभी वह स्वमेव दुष्टता का प्रतिकार तथा प्रतिहिंसा करना बन्द कर देता है और तब उसमें इतना धैर्य एवं प्रेम उत्पन्न हो जाता है कि यदि कोई वार करे तो वह उसे सहन कर सके तथा यदि कोई उसे लूटना चाहे तो खुद ही वांछित वस्तु को उसे अर्पण कर सके। उसका हृदय शान्ति से पूर्ण रहता है जिसका अर्थ है घृणा का एकान्त विनाश। सच्चा ब्राह्मणत्व मानव-शक्ति के उच्चतम विकास का प्रतीक है। आध्यात्मिक महत्ता के आधार पर ही समाज में वर्ण की व्यवस्था की गई है। मनुष्य के पंख नहीं होते, अतः उड़कर शिखर पर जा पहुँचना उसके लिए सम्भव नहीं; उसे तो धीरे-धीरे कष्ट तथा प्रयास के साथ ऊपर उठने में ही सन्तुष्ट होना होगा। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में यही क्रमिक योजना स्वीकृत हुई है। इस बात की पुष्टि में गोरक्षा तथा अहिंसा के दो उदाहरण दूँगा। "किसी जीव की हिंसा मत करो।" यही सबसे बड़ा धर्म है, यही मनुष्य के योग्य धर्म है। प्रत्येक ब्राह्मण के लिए इसका पालन करना अनिवार्य है फिर भी इस व्यवस्था में क्षत्रियों का विधान है जिनका धर्म है युद्ध में लोगों को मारना तथा स्वयं लड़ते हुए मर जाना। व्यवस्था-विधायकों का विचार था कि "आँख के बदले में आँख एवं दाँत के बदले में दाँत" लेने की भावना मानव-प्रकृति का अटल गुण है। उसका निवारण एकाएक नहीं किया जा सकता। जहाँ अनाचार को स्वीकार करना अनुचित है एवं प्रेम के द्वारा उसका प्रतिकार सम्भव नहीं, वहाँ बलपूर्वक उसका विरोध करना विहित है एवं क्षत्रियोंसे कहा गया है कि शत्रुओं का दमन करना तुम्हारा

कर्तव्य है। फिर भी यह अधिकार तो मानव-प्रकृति पर दया करके ही दिया गया है तथा क्षत्रियों को बता दिया गया है कि ब्राह्मणों का प्रेम-धर्म उनके हिंसा-धर्म से श्रेष्ठ है। क्षत्रिय विकास की निम्न श्रेणी का द्योतक है क्योंकि वह मनुष्य को केवल मांस का पिंड मानता है, उसमें भगवान् की ज्योति नहीं देखता। उसे घृणारहित भ्रातृभाव से कर्तव्य समझकर ही युद्ध करने की आज्ञा है, प्रतिहिंसा की भावना से नहीं—इस विचार से नहीं कि इसने हमें दुख दिया है, अतः हम भी इसे दुख देंगे। यदि क्षत्रिय इस प्रकार मानव-हित का ध्यान रखकर अपना कर्तव्य करे तो उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी और धीरे-धीरे पशुबल पर आश्रित रहना कम करता हुआ वह अन्ततोगत्वा संसार में किसी भी जीव की हिंसा न करनेवाला ब्राह्मण बन जायगा। हिंसापूर्ण युद्ध की आज्ञा दी अवश्य गई है, पर चरम लक्ष्य तो उसका अतिक्रमण कर जाना ही है। प्रकृति की धारा के साथ बहने का उद्देश्य उसे पार कर जाना है।

अहिंसा धर्म का विधान पशु-पक्षियों के लिए भी है। हेतुशास्त्र की दृष्टि से इसका अर्थ यह भी है कि हमें निरामिष भोजन ही करना चाहिए। पशु-पक्षियों की सृष्टि भी ईश्वर ने ही की है, अतएव उनके प्रति भी हमें सदय होना चाहिए। गाय पशु-जगत् की प्रतीक है। धार्मिक हिन्दू नित्य भगवान् से प्रार्थना करता है कि गो-ब्राह्मण की रक्षा हो, गो-ब्राह्मण जो क्रमशः पशु एवं मानव जगत् के शारीरिक एवं आध्यात्मिक पोषकों के प्रतीक हैं। गांधीजी ने लिखा है—"गाय के देवत्व-प्रदान का कारण तो स्पष्ट है। भारतवर्ष में मनुष्य की सबसे बड़ी मित्र गाय ही थी। उससे ही समृद्धि की प्राप्ति होती थी। गाय एक करुण काव्य है·········वह करोड़ों

भारतवासियों की माता है। गो-रक्षा का अर्थ समस्त मूक सृष्टि की रक्षा है"।* भारतवर्ष में कुछ ऐसे लोग भी थे जो पशुओं पर जरा भी दया नहीं दिखाते थे। उनकी आदत में सुधार करना पड़ा था। मांस-त्यागी तथा खेल अथवा भोजन के लिए भी किसी पशु की हिंसा न करनेवाले ब्राह्मण का आदर्श लोक-चरित्र की उन्नति में काफ़ी सहायक सिद्ध हुआ है। क्षत्रिय तथा वैश्य मुख्यत: शाकाहारी हैं। उत्सव तथा पर्व के दिन शूद्र भी मांस-भक्षण नहीं करते। इस प्रकार शाकाहार-प्रवृत्ति निश्चितरूप से बढ़ रही है। पशुओं पर बिलकुल ही दया न करनेवाले केवल 'पंचम' वर्ण ही हैं जिन पर हिन्दू-धर्म का प्रभाव रंचमात्र भी पड़ा नहीं दिखाई पड़ता।

हिन्दू-धर्म पर यह लाछन लगाना कि उसने दलित वर्गों के मानसिक एवं चारित्रिक विकास के लिए कुछ भी नहीं किया, प्रगट करता है कि हिन्दू-धर्म ने भारत में जो कुछ किया है उसके सम्बन्ध में हम बिलकुल ही अज्ञ है। बौद्ध एवं ईसाई धर्म की इतनी शताब्दियो के पश्चात् भी आज जब एक सभ्य जाति किसी असभ्य जाति के सम्पर्क में आती है तो वह उस असस्कृत जाति की मनोवृत्ति को समझने का प्रयास नहीं करती, केवल क्रूर उपायों के द्वारा विजय प्राप्तकर उन्हें अपने अधीन बना लेती है जिसका परिणाम यह होता है कि यदि उस असभ्य जाति के पास रोने को आँखें बच रहीं तो वह दिन-रात रो-रो कर भगवान् को अभिशप्त किया करती है कि क्यों उसने इन संस्कारकों को उनके देश में भेजा। भारत के आर्यों ने यहाँ के मूल निवासियों को भी अपना अंग बना लिया तथा मलिनता

* नवजीवन—६ अक्टूबर, १९२१

एवं मदिरापान की आदत छुड़ाने में, पवित्र जीवन बिताने एवं परमात्मा की भक्ति करने में उनकी प्रचुर सहायता की। यह देख कर कि यहाँ के मूल निवासी नागों की पूजा करते हैं, आर्यों ने उनसे कहा कि नागदेव से भी महान् नागेश्वर है, वह नागों का स्वामी कृष्ण है जो कालिय नाग के मस्तक पर नृत्य कर रहा है। समाज को शीघ्रतापूर्वक उच्च आचार की ओर ले जाकर, जो आन्तरिक प्रेरणा के बिना असम्भव है, उन्होंने कोई ऐसा काम नही किया जिसके लिए वे इतिहास के प्रति हिंसा-भाजन बनें। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा क्रमिक सभ्यता-विकरण का कार्य मुसलमानों के आने से पहले तक चलता रहा। भारत-जैसे विशाल देश में, जहाँ यातायात की कोई विशेष सुविधा भी नहीं थी, जो कुछ भी सफलता मिली वह वास्तव में महान् है। जेम्स केनेडी लिखते हैं—"इन आदिम निवासियों अथवा अन्त्यजों को हिन्दू-धर्म में दीक्षित करके उन्हें पचा जाने का भार नवीन हिन्दू-धर्म पर पड़ा और ईसा की ७ वीं तथा ११ वीं शताब्दी के मध्य में यह काम पूरा हो गया। यह काम इतनी कुशलता से किया गया कि आज हम समस्त उत्तरी भारत में रक्त, संस्कृति एवं धर्म की दृष्टि से बहुत कुछ एक ही प्रकार की जनता को निवास करते देखते हैं जो अपनी सीमा के उस पार निवास करनेवाली नीच जातियों से भली भाँति पहचानी जा सकती हैं।"* हिन्दू-समाज में विदेशी बराबर आते रहे तथा हिन्दू-धर्म इन भिन्न प्रकृति के लोगों में उच्च जीवन की स्फूर्ति उत्पन्न करने में बराबर सफल रहा है। अगर यह संस्कार-कर्म न चलता रहता तो

* इम्पीरियल गज़टियर—भाग २, अध्याय ८

आज भारत में पांच करोड़ अछूतों के स्थान में २५ करोड़ अछूत होते। हिन्दुओ की राजनीतिक पराधीनता के कारण यह काम कुछ मन्द पड़ गया है। तभी से हिन्दू-समाज अनुदार रूढ़िवादी बन गया है और भारत-निवासियों का एक बहुत बड़ा भाग समाज से दूर जा पड़ा है। दूसरे सम्प्रदाय इस दुर्बलता से लाभ उठाकर उसकी काफ़ी हानि कर रहे हैं।

**परम्परा.** सभी हिन्दू वेदों को सर्वोपरि धार्मिक प्रमाण स्वीकार करते है। उनमें जीवन तथा विश्व के तत्त्व का निरूपण है। वेदों का प्रधान अंग उपनिषद् हैं जो उस स्वतंत्र आध्यात्मिक प्रगति का परिणाम हैं जिसने अज्ञातरूप से वेदों के अपरिष्कृत अंशों को दबा दिया। हिन्दू-धर्म का परवर्ती इतिहास इसी औपनिषदिक सुदृढ़ आधार पर निर्मित एक भव्य भवन का इतिहास है। यद्यपि धार्मिक विचारों ने अनेक क्रान्तियाँ कीं, अनेक बार महान् विजयें प्राप्त कीं फिर भी लगभग पांच हजार वर्षों से उसके मुख्य सिद्धान्त उसी रूप में चले आ रहे हैं। जब-जब दुराग्रह के विकास ने धर्म को संकीर्ण साम्प्रदायिकता में अवरुद्ध कर दिया है तब-तब सच्चे महात्माओं ने जन्म लेकर आध्यात्मिक नव जागरण का उपदेश दिया है। उपनिषदों का प्रवाह जब दुराग्रहपूर्ण विवाद में लुप्त हो गया, जब शुष्क शास्त्रार्थ के ज्वर ने धार्मिक चेतना को बेसुध कर दिया, तब भगवान् बुद्ध ने सत्य की सरलता एवं आचरण की विशुद्धता पर ज़ोर दिया। जब शास्त्रीय संस्कृति एवं निरर्थक पाण्डित्य ने धर्म को अमानुषिक शास्त्रवाद बनाकर इस दुर्बोध व्यर्थता में निष्णात् पण्डितों को हास्यास्पद अहंकार से भर दिया था, सम्भवतः तभी, यद्यपि देश के दूसरे भाग में, गीताकार ने सभी पवित्र-हृदय

मनुष्यों के लिए स्वर्ग-द्वार उन्मुक्त कर दिया। भारतीय धर्म का जो संस्कार शंकर ने किया था वह अब भी सर्वथा शक्तिहीन नहीं हुआ है। रामानुज तथा माधव, कबीर तथा नानक हिन्दू-धर्म पर अमिट छाप छोड़ गये हैं। यह स्पष्ट है कि हिन्दू-धर्म एक प्रणाली है, परिणाम नहीं; एक वर्द्धमान परम्परा है, अटल दिव्य-प्रकाशन नहीं। किसी ओर से भी आनेवाले ज्ञान पर इसने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया क्योंकि आत्म-राज्य में मेरे और तेरे का भेद नहीं है।

# २

# हिन्दू-धर्म

आर्यों के भारत में प्रवेश करने के दिन से आज तक गम्भीर जातीय एवं धार्मिक विप्लवों का निरन्तर सामना करते रहने का गौरव अथवा दुर्भाग्य भारत का सदा ही रहा है। एक विशेष अर्थ में भारतवर्ष संसार का एक छोटा संस्करण है। वह एक प्रयोगशाला है जहाँ संसार की समस्याओं से सम्बन्धित जातीय अथवा धार्मिक संश्लेषण के प्रयोग किये जाते हैं। यदि यह ठीक है कि प्रत्येक जाति की एक विशेषता होती है और वह ईश्वराभिव्यक्ति के किसी विशेष रूप को ही हमारे सम्मुख उपस्थित करती है, तो मालूम होता है जातीय एवं धार्मिक संघर्षों का समाधान करने के लिए ही भारत चुना गया है।

हिन्दू-धर्म की प्रचण्ड तरंगों तथा शान्त जल-राशि के लम्बे इतिहास में इस सरिता की वक्र गतियों एवं विस्तृत बालुकापूर्ण तटों में एक सामान्य वृत्ति को, एक आध्यात्मिक उद्देश्य को खोज लेना सम्भव है जो नित्य परिवर्तनशील रूपों के भीतर भी स्थिर रहा

है। प्राचीन हिन्दू-धर्म के मुख्य सिद्धान्त मृत सीप नहीं हैं प्रत्युत् जीवित शक्तियाँ हैं जो सामर्थ्य एवं लाक्षणिकता से पूर्ण हैं। यदि ऐसा न भी हो तो भी उस हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों को समझना मनोरंजन से खाली नहीं है, जिसके माननेवाले इस समय बीस करोड़ हैं।

'धर्म' शब्द का अर्थ काफ़ी जटिल है। यह उन सभी आदर्शों तथा उद्देश्यों को, प्रभावों तथा संस्थाओं को व्यक्त करता है जो मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामाजिक चरित्र का निर्माण करते हैं। यह उस आचार-शास्त्र का नाम है जिसके पालन से ऐहिक सुख तथा मोक्ष दोनों की ही प्राप्ति होती है।* यह आचारशास्त्र तथा धर्म दोनों का समुच्चय है। 'धर्म' नियमों से हिन्दू-जीवन पूर्णतः नियंत्रित है। उसके उपवास तथा उत्सव, उसके पारिवारिक तथा सामाजिक बन्धन, उसकी रुचि तथा स्वभाव सबका मूलाधार धर्म ही है।

मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष है। आत्म-शिखर पर चढ़कर अमरत्त्व लाभ करना मनुष्य के लिए निश्चित है। हम देव-सन्तान—अमृतस्य पुत्राः—हैं। मानव-हृदय का अमर स्वप्न जीव की आत्मज्ञान के लिए तीव्र उत्कण्ठा ही हिन्दू-धर्म का आधार है। वह मानता है कि आत्मा ही अन्तिम सत्य है। हृदय की सब कामनायें, न्याय के सारे विवाद, आत्मा के अस्तित्त्व को मानकर ही चलते हैं। इसे तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, यद्यपि इसके बिना प्रमाण की ही सम्भावना नहीं हो सकती। यह केवल श्रद्धा का भी विषय नहीं है क्योंकि यह वही श्रद्धा है जो तर्क का भी मूल है। यदि

* अभ्युदय तथा निश्रेयश

मनुष्य की आत्मा के सम्बन्ध में भी सन्देह सम्भव है तो सन्देह ही संसार से मिट जायगा। यदि कुछ भी है तो आत्मा भी है। यह वह चरम सत्य है जो परिवर्तन से परे है, वह अदृष्ट वास्तविकता है जो समस्त जीवन एवं तर्क का आधार है। यह वह रहस्य है जो अज्ञात रहकर ही अपने को व्यक्त करता है। 'हम हैं' यह एक ऐसा सत्य है जिसकी तुलना में हमारे विचारों का कोई महत्त्व नहीं। मनुष्य की वे दुर्बलताएँ ही, जो उसके मार्ग में बाधक होती हैं, उसके भय का कारण बनती हैं, वह अन्धकार है जो अन्तर के प्रकाश को छिपाये है। यदि हम अपने जीवन के एकमात्र निश्चित विन्दु अपनी आत्मा की शरण में पहुँच जायँ तो हम अनुभव करेंगे कि संसाररूपी अन्तहीन प्रतीत होनेवाले पथ में हम अकेले नहीं हैं और तब हम संसार पर विजय पा सकते हैं तथा मृत्यु को ललकार सकते हैं। "जो तुम्हारे भीतर है, वह उससे बड़ा है जो संसार में है।"*

यद्यपि सम्पूर्ण प्रयत्न का उद्देश्य मनुष्य की आध्यात्मिक पूर्णता है, पर हिन्दू-धर्म किसी भी धार्मिक विश्वास अथवा उपासना के स्वरूप पर ज़ोर नहीं देता। भगवान् की प्रार्थना करने अथवा उस तक पहुँचने के मार्ग-चयन में लोगों को पूर्ण स्वतंत्रता है। हिन्दू-विद्वान् मानव-जाति-विज्ञान तथा दर्शन के पण्डित थे, अतएव उन्होंने धार्मिक विश्वास के सम्बन्ध में कभी बल-प्रयोग नहीं करना चाहा। धर्म-सम्बन्धी शत्रुता अथवा मनोमालिन्य तभी शुरू होता है जब हम ईश्वर-सम्बन्धी अपनी कल्पना को विशेष महत्त्व देने लगते हैं।

* जान ५. २१

इसके अतिरिक्त धर्म स्वतंत्रता का समर्थक है एवं मनुष्य पर सबसे बड़ा अत्याचार यही है कि हम उसे समझ में न आनेवाली बात में विश्वास करने को विवश करें। दूसरे, व्यक्ति तथा ईश्वर के सम्बन्ध का वर्गीकरण बहुत कठिन है। मनुष्य का हृदय अपने रक्त से अपनी भक्ति-पद्धति का रूप अंकित करता है। एक सस्कृत का श्लोक है—"जिस प्रकार पक्षी आकाश में उड़ते समय और मछलियाँ समुद्र में तैरते समय अपने पीछे कोई चिह्न नहीं छोड़तीं, वही दशा भगवद्भक्त की है।" ईसा ने दिव्य जीवन के रहस्य के सीमित मानव-हृदय में व्यक्त होने की बात कही थी—"हवा जहाँ चाहती है, जाती है; तुम उसका शब्द तो सुनते हो पर यह नहीं बता सकते कि वह कहाँ से आई है और किधर जायगी; ठीक यही हाल भगवान् के भक्तों का है।" ईश्वर अपने को कभी तो बिजली की चमक में और कभी हृदय के स्पन्दन में प्रगट करता है। जो हिन्दू अपने धर्म के भाव को समझता है वह सभी धर्मों का सम्मान करता है। बोलपुर में रवीन्द्र नाथ के स्कूल में एक निराकार परमात्मा की उपासना की जाती है, पर दूसरे मतों की निन्दा करने का वहाँ निषेध है। धर्म के मामले में महात्माजी बहुत उदार हैं। ब्राह्मण-दार्शनिकों का अन्य धर्मों के प्रति क्या भाव है यह बताते हुए विल्सन लिखता है—"वारेन हेस्टिंग्स की आज्ञा से हिन्दू-विधान-संहिता का संकलन करने वाले पण्डित अपने काम का आरम्भ इस भूमिका से करते हैं कि सब प्रकार की धार्मिक पूजा से समान पुण्य की प्राप्ति होती है। वे कहते हैं कि विरोधी विश्वास एवं धार्मिक वैषम्य इस विश्व-योजना के अंग हैं क्योंकि जैसे चित्रकार किसी चित्र को सुन्दर बनाने के लिए

उसमें भाँति-भाँति के रंग भरता है, अथवा माली विविध प्रकार के पुष्पों से वाटिका को सजाता है, वैसे ही ईश्वर ने प्रत्येक जन-समुदाय के लिए विशिष्ट धर्म नियत कर दिया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी पद्धति से उसका यशोगान कर सके और चूँकि सबका उद्देश्य एक ही है अतएव भगवान् को वे सब एक समान प्रिय हैं।"*

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हिन्दू-दार्शनिकों को ईश्वर का सम्यक् ज्ञान नहीं है तथा वे सब धर्मों को समानरूप से ठीक मानते हैं। उन्हें ऊँचे-से-ऊँचे सत्य का यथार्थ अनुभव है, यद्यपि वे यह नहीं चाहते कि सब उनके ही अनुभव को स्वीकार कर लें। उनका ख्याल है कि यदि मस्तिष्क संस्कृत है तो सत्य का प्रत्यक्ष स्वतः हो जायगा। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों के मानसिक एवं सामाजिक विकास का प्रकाश होता है, इसलिए उपलब्ध मतों के स्थान में बिलकुल नये मतों को स्थापित करना धृष्टतापूर्ण है। निम्न श्रेणी के विचार बढ़ती हुई विवेचना के सम्मुख ठहर नहीं सकते तथा सच्चा सुधारक मनुष्य की मानसिक एवं चारित्रिक उन्नति करने का यत्न करता है। सत्य का ज्ञान धार्मिक विश्वास का परिणाम नहीं होता वरन् गम्भीर नैतिक आचरण का अनुभव होता है। इसीलिए हिन्दू-दार्शनिक सिद्धान्त की अपेक्षा आचार को अधिक महत्त्व देते हैं। हिन्दुओं के धर्म को धर्मशास्त्र न कहकर जीवन-योजना कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। कोई दृढ़ हिन्दू है अथवा नहीं, यह बात इस पर इतना नहीं निर्भर करती कि वह किसी विशेष सिद्धान्त को मानता है अथवा नहीं जितना इस बात पर कि वह

* एच. एच. विल्सन—'लेख तथा व्याख्यान' भाग २, पृष्ठ ८

'धर्म' को मानकर चलता है कि नहीं।*

ईश्वर के अस्तित्व में दृढ़ विश्वास होने से जो आचरण स्वभावत: होने लगता है, धर्म उसी को जीवन का आदर्श बनाने की आज्ञा देता है। यदि सबसे बड़ा सत्य यही है कि ईश्वर मनुष्य के हृदय में निवास करता है तो इस विश्वास को कार्यान्वित करने वाला आचरण ही आदर्श आचरण होगा। भिन्न-भिन्न सद्गुण सत्य के ही विभिन्न रूप (सत्याकारा:) हैं।† सत्य, सौन्दर्य एवं शील आदर्श पुरुष के जीवन के लक्षण हैं, उसका आवश्यक अंग हैं। वह आत्मत्याग, विनम्रता, वात्सल्य एवं पवित्रता आदि सद्गुणों का व्यक्त स्वरूप ही होगा। वासना पर आत्मा की विजय होने से घृणा के मेघ एवं विषय की कुज्झटिका विनष्ट हो जाती है और उसका हृदय शान्ति से भर उठता है और तब महान् संकट के अवसरों पर, व्यक्तिगत हानि अथवा सामाजिक संकट में भी वह विचलित नहीं होता। शान्त चित्त, दृढ़ निश्चय तथा प्रमादरहित दृष्टि से वह समयोचित व्यवहार किया करता है। वह किसी एक देश का नहीं प्रत्युत् सच्चे अर्थ में संसार का नागरिक बन जाता है। शक्ति की इच्छा एवं अहंकार उत्पन्न करनेवाले रजोगुण तथा आलस्य एवं निष्क्रियताजनक तमोगुण पर आनन्द एवं प्रेम व्यंजक सत्त्वगुण का प्राधान्य हो जाता है। महात्मा के लिए धर्म अन्तर्प्रेरणा बन जाता है; दूसरों के लिए वह वाह्य-नियंत्रण है, सामाजिक रीति अथवा लोक-मत का अनुरोध है।

* मनुस्मृति २. २

† देखो महाभारत—अनुशासन पर्व १६२ तथा शान्ति पर्व ३३

जो आदर्श हमें क्रोध एवं मोह से बचने को कहता है, मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र बनने को कहता है, वह पाप एवं दुःख से पूर्ण जीवन के थपेड़ों से व्यग्र मानव के लिए असम्भव आदर्श है। वह जीवन से ऐसी चीज़ माँगता है जिसका देना जीवन के लिए सम्भव नहीं। वह जीवन के समस्त आधारों को नष्ट कर देना चाहता है। यदि मोक्ष के लिए सर्वस्व-त्याग आवश्यक है तो बहुत-से लोग मोक्ष के विचार को ही त्याग देंगे। संसार का कुछ ऐसा नियम है कि जो आध्यात्मिक मर्यादा का पालन करना चाहते हैं, उनके सफलता मिलने की आशा बहुत कम ही होती है। हम सभी जानते हैं कि 'पर्वत के उपदेश' को किस प्रकार असम्भव आदर्श कहकर उड़ा दिया जाता है। हम हमेशा एक गाल पर थप्पड़ खाकर मारनेवाले की ओर दूसरा गाल दूसरा थप्पड़ खाने के लिए नहीं फेर सकते, जब हमारा अनुभव है कि दोनों गालों पर चपत लगाने की इच्छा में प्रबल आकर्षण है। कष्टों में भी आनन्द का अनुभव करना दिव्य गुण हो सकता है; पर मनुष्य तो बड़ा दुर्बल प्राणी है। ईसाई-संसार तो यह कहकर संतोष कर लेता है कि ईसा भी एक-आध बार दुःख से व्याकुल हो उठे थे--"हे पिता! यदि सम्भव हो तो इस विष के प्याले को हटा लो।" "हे भगवान्! आपने हमारी सुध क्यों बिसार दी?" वे लोग, जिन्हें अपनी व्यावहारिकता पर गर्व है, आदर्श को सामान्य मानव-स्वभाव का रूप दे देना चाहते हैं, उसे प्रभुता एवं लोभ, वासना तथा पाप के अधीन बना देना चाहते हैं। आधुनिक सांसारिक सुधारक कहता है—"तुमने प्राचीन उपदेशकों को यह कहते सुना है कि 'हिंसा मत करो' पर मैं तुमसे कहता हूँ कि भोजन के लिए पशु, शिकार के लिए पक्षी तथा युद्ध में मनुष्यों को छोड़कर

तुम किसी की हिंसा न करना।' कहा गया है—'लालच न करो।' पर मेरा आदेश है कि 'तुम बड़े पैमाने पर उद्योग और साम्राज्यवाद को छोड़कर और कहीं लालच मत करना।' तुमने पुराने लोगों को यह भी कहते सुना है कि 'घृणा मत करो।' मैं तुमसे कहता हूँ कि 'तुम पिछड़ी हुई जातियों, अपने शत्रुओं तथा निर्बलों को छोड़कर अन्य किसी से भी घृणा न करना।' उस त्यागपूर्ण धार्मिक जीवन से घबड़ाकर, जिसका सिद्धान्त है कि आनन्द की प्राप्ति शक्ति तथा सम्पत्ति से नहीं शान्ति एवं प्रेम से होती है, हमारे प्रगतिशील सुधारक धर्म-नियमों में इतने अपवाद जोड़ देते हैं कि उनकी आत्मा की हत्या हो जाती है तथा हिंसा धन-राशि एवं शस्त्रास्त्र प्रचुर अर्वाचीन व्यवहार को ही मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य माननेवाले सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है। वे अनायास ही उस मनुष्य की कहानी को भुला देते हैं, जिसने अनेक वर्षों के लिए पर्याप्त अन्न संग्रह करने के लिए बड़ी-बड़ी खत्तियों के निर्माण करने की योजना तैयार की थी, किन्तु उसी रात को मृत्यु का शिकार हो जाने के कारण उस योजना को कार्यान्वित करने का अवसर ही जिसे नहीं मिल सका था।

हिंन्दू-दार्शनिकों को अच्छी तरह मालूम है कि मनुष्य की वास्तविक प्रकृति में, जो काफ़ी खराब है, तथा असम्भव प्रतीत होने वाले आदर्श में बहुत बड़ा अन्तर है। यथार्थ तथा आदर्श के महान् अन्तर का ज्ञान उन्हें आदर्श को नीचे गिराने की प्रवृत्ति नहीं देता। वैसा करना उन्हें अपनी आत्मा के प्रति अक्षम्य अपराध करना प्रतीत होता है। अतः वाह्यतः दुर्दम जीवन-परिस्थितियों से ही वे एक अमूल्य आदर्श-सृजन का प्रयास करते हैं। मनुष्य का स्वभाव तथा

उसकी नैतिक रुचि धीरे-धीरे ही बदलती है। यदि हम पूर्णता की ओर बढ़ना चाहते हैं तो हमें धैर्य से काम लेना होगा। कर्म विपाक सिद्धान्त के अनुसार पूर्णता तक पहुँचने के लिए लाखों योनियों में होकर जाना पड़ता है। विचारों को आदर्श-भूमि तक पहुँचाने के लिए अनेक कष्ट-श्रम उठाने पड़ते हे एवं बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। अपने हृदय को आनन्द से उच्छ्वसित करने के लिए असंख्य हृदयों को कुचलना होता है। पवित्र भाव के उत्पादन के लिए अनेक त्यागपूर्ण प्रयासों की आवश्यकता होती है। अधिकांश लोग आध्यात्मिक शिखर पर एक-एक सीढ़ी करके ही चढ़ पाते हैं। एक छलांग में चोटी पर पहुँचनेवाले उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। वर्णाश्रम धर्म ही वह उपाय है जिसे हिन्दुओं ने क्रमिक विकास के लिए ढूंढ़ निकाला है। उसका उद्देश्य है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति महात्मा अथवा ऋषि बन जाय। उसके नियम भौतिक नहीं, आध्यात्मिक राज्य के नियम हैं, वे किसी राष्ट्र विशेष के नहीं प्रत्युत् सार्वभौमिक हैं। यदि धार्मिकता का अर्थ उन नियमों से है जिन्हें मानने का आदेश हमारा हृदय देता है और क़ानून अथवा विधान से उन नियमों को सूचित किया जाता है जिनको मानने के लिए राज्य की ओर से विवश किया जाता है तो हमारा 'धर्म' इन दोनों से परे की चीज है। यह तो वह परम्परा है जिसका अनुमोदन मनुष्यों की अगणित पीढ़ियों के हृदय कर चुके हैं, जो हमारी आत्मा में सत्य की प्रतिष्ठा करती है। यह राजकीय विधान एवं वैयक्तिक हृदय दोनों से ही भिन्न है। इसीलिए पारस्परिक कलह तथा साम्राज्यवादी आक्रमण भारतीय जीवन को स्पर्श भी नहीं कर सके तथा लगभग पचास शताब्दियों से वह उसी अविकल रूप में चला आ रहा है

विजय के तूफ़ान इस अविचलित जनसमुदाय के ऊपर से वैसे ही निकल गये जैसे नरकुल के बन पर होकर प्रबल वायु का झोंका।

मोक्ष ही वह आदर्श है जिसकी ओर मानव-जाति को अग्रसर होना है। सम्पूर्ण जीवन इसी आदर्श से जड़ित है। सब मनुष्य समान हैं क्योंकि वे सब परमात्मा की सन्तान हैं; वे समान हैं क्योंकि उन सभी को एक ही दिव्य गति प्राप्त करनी है। परन्तु मनुष्यों की आदर्श-प्राप्ति की योग्यता में भेद है। उन्हें भिन्न-भिन्न मात्रा में मलिनता तथा अविद्या का क्षय करना है एवं अपने जीवन को प्रकाश तथा प्रेम से भरने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयास करने हैं। प्रत्येक व्यक्ति की सम्यक् शिक्षा के लिए वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था कर दी गई है। इसमें मानव-प्रकृति के विविध रूपों का ध्यान रखा गया है। मनुष्य-जीवन का मूल कर्म अथवा वासना है। मनुष्य वासनाओं का समुदाय है। मनु का कथन है—"मनुष्य को काम का—वासना का—दास नहीं होना चाहिए, पर अकामता तो संसार में दिखाई नहीं देती।"* चूंकि हमारी समस्त क्रिया वासनाजन्य होती है, अतएव उसका उचित संयम भी धर्म का अंग है। फलतः काम भी धर्मसंगत समझा गया है। काम का अर्थ केवल पाशविक इच्छाओं की तृप्ति नहीं है वरन् आत्म-स्वातंत्र्य का प्रकाशन है। यह तब तक सम्भव नहीं जब तक हम इन्द्रियों की दासता से मुक्त नहीं होते। मनुष्य-जीवन नाना प्रकार के इन्द्रिय-सुखों के उपभोग में ही नहीं समाप्त हो जाता वरन् वह तो अशाश्वत रूपोंके द्वारा विकसित होने वाले एक शाश्वत तत्त्व की अभिव्यक्ति है। मनुष्य की कामनाओं को

* मनुस्मृति २. २३

पारिवारिक जीवन एवं सामाजिक कर्तव्य की ओर प्रेरित कर दिया गया है। भावुक अथवा कलात्मक जीवन भी जीवन के परम-कल्याण का अंग है, परन्तु संन्यास के वातावरण में कला का विकास सम्भव नहीं। उसके लिए अर्थ की आवश्यकता है। यदि लोगों की रचनात्मक प्रवृत्तियों को उच्च सांस्कृतिक जीवन के लिए मुक्त करना है तो समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होगी। अतः ऐसे नियम बना दिये गये हैं जिससे व्यक्ति के द्वारा उपार्जित अर्थ से समाज का भी हित-साधन हो। प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता समाज की आवश्यकता से नियंत्रित कर दी गई है। आत्म-त्याग के ही द्वारा सम्पत्ति का उपार्जन एवं उपभोग सम्भव है। काम तथा अर्थ का नियंत्रण भी धर्म ही करता है। जिनमें धर्म-भावना प्रबल होती है वे सात्त्विक-प्रकृति कहलाते है, अर्थ-प्रेमी राजसिक प्रकृति के होते हैं तथा केवल विषय-लोलुप तामसिक प्रकृतिके मनुष्यों में परिगणित हैं।* जो व्यक्ति 'धर्म' के नियमों का पालन करता है वह अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है; अतएव धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवन के लक्ष्य कहे जाते हैं।

जीवन तथा विश्व की उत्पत्ति का कुछ भी कारण क्यों न हो, नैतिक उद्देश्य की महत्ता को सभी स्वीकार करते हैं। हिन्दू-दर्शन के अनुसार मनुष्य का जन्म एक दिव्य उद्देश्य का परिणाम है। हमारे विगत जीवन की अतृप्त वासनाएँ ही इस जन्म का कारण हैं। तप के द्वारा ही हमारी दुर्बलता शक्ति में एवं अविद्या ज्ञान में परिणत हो सकती है। जीवनजात पापों का क्षय तप तथा संयम के द्वारा ही किया जा सकता है। 'आश्रम' शब्द की व्युत्पत्ति जिस धातु से है उसका अर्थ

* मनुस्मृति १२. ३८

कष्ट उठाना है। बिना कष्ट के उन्नति नहीं हो सकती; बिना मृत्यु के पुनरुज्जीवन कैसे सम्भव हो सकता है! आदि से लेकर अन्त तक हमारा जीवन एक प्रकार की मृत्यु है जिसका अर्थ है अधिक विशाल जीवन। जितना ही हम अपने लिए मृत होते जाते हैं, उतना ही भगवान के निकट अधिक जीवित होते हैं। जीवन तथा मृत्यु में अटूट सम्बन्ध है एवं पूर्ण विनाश का फल पूर्ण जीवन है। प्रत्येक हिन्दू के लिए चारों आश्रमों का विधान है। पहले दो आश्रम ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रम कहलाते हैं। अन्तिम दोनों जीवन से अवकाश ग्रहण करने से सम्बन्धित हैं तथा उनमें पहुँचकर पुरुष भगवान् तथा मानवता का सेवक बन जाता है।*

पहला आश्रम यज्ञोपवीत संस्कार से आरम्भ होता है जो आध्यात्मिक जीवन में दीक्षित होने का सूचक है। इसका उद्देश्य मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक पुष्टता का विधान करना है। इस आश्रम का मुख्य लक्ष्य स्वास्थ्य-वर्द्धन एवं मानसिक विकास है। छात्र को निर्मलता, ब्रह्मचर्य, शिष्टाचार एवं आस्तिकता पूर्ण जीवन की शिक्षा दी जाती है। सब विद्यार्थियों को, चाहे वे राजपुत्र हों अथवा कृषक-सन्तान, दरिद्र जीवन बिताकर सामाजिक सहानुभूति का अभ्यास करना पड़ता है। प्रत्येक छात्र को जीवन-धारण के लिए भिक्षा माँगनी पड़ती है और दरिद्रता का अभ्यास विद्यार्थी को यह बुद्धि देता है कि साधु-जीवन के लिए सम्पत्ति आवश्यक नहीं होती। विद्यार्थियों को स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जाता और न उन्हें विवेकहीन धर्मान्धता के ही अधीन कर दिया जाता है। न तो उन्हें स्वकल्पना-प्रसूत प्रतिमाओं का निर्माण

* मनुस्मति ६. ८७

करने का अधिकार रहता है और न वे अन्धविश्वास तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता के ही शिकार बनने दिये जाते हैं। सत्य-प्रेम तथा परम्परा में श्रद्धा रखने पर ज़ोर दिया जाता है। विद्यार्थियों की क्षमता एवं आवश्यकता के अनुसार ही शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। तब समस्या इतनी जटिल नहीं थी जैसी आज है क्योंकि बालकों का भावी व्यवसाय प्रायः निश्चित रहता था। शिक्षा की व्यवस्था में, वह धार्मिक हो अथवा सामान्य, बालक तथा बालिकाओं में कुछ भी भेद नहीं किया जाता था। केवल सह-शिक्षा को अवश्य प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था।

शिक्षा-काल समाप्त होने पर विद्यार्थी को पारिवारिक उत्तर-दायित्व ग्रहण करना पड़ता था। पुरुष अकेला नहीं होता, उसके ऊपर स्त्री एव बच्चों का भी भार होता है।* वह कुटुम्ब का भरण-पोषण करनेवाला तथा समाज का आश्रयदाता बन जाता है। पारिवारिक जीवन एवं सामाजिक कर्तव्य दोनों ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते है एवं उनके लिए आत्म-संयम अनिवार्य है। प्रत्येक पुरुष को लोक-कल्याण की भावना से ही अपना कतव्य करना पड़ता है। केवल व्यक्तिगत सुख के लिए लोक-सेवा का परित्याग किसी को भी नहीं करना चाहिए।† हम पारस्परिक सहायता करने का वचन दे चुके है, अतएव हमें एक-दूसरे के लिए ही प्राण धारण करना चाहिए— व्यक्ति परिवार का, परिवार सम्प्रदाय का, सम्प्रदाय राष्ट्र का एवं राष्ट्र संसार का हित-साधन करे। वर्ण-धर्म, जिसका उपयोग गृहस्थ आश्रम से

* मनुस्मृति १०-४५

† भगवद्गीता ३. १६

आरम्भ होता था, मनुष्यमात्र की एकता एवं अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध को मानकर ही चलता है। वह सामाजिक तथा वैयक्तिक आवश्यकता का ध्यान रखकर चलता है। वह व्यक्तित्व की रक्षा करता है क्योंकि वह अपने से श्रेष्ठ सत्ता की सेवा करके अपने को ऊपर उठा देता है। वातावरण के एक विशेष अंग पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति को केन्द्रित करके वह अपना पूर्ण विकास करने का प्रयास करता है। यह हीगल के विरोधी दृश्यों के सामंजस्य का उदाहरण है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो व्यक्ति एवं समाज के विरोधी-से प्रतीत होनेवाले अधिकारों में सन्धि करा देता है। वर्ण-व्यवस्था का मूल सिद्धान्त अकेले व्यक्ति का कल्याण अथवा अकेले समाज का हित नहीं है किन्तु उनसे भी श्रेष्ठ उद्देश्य की कल्पना है जिसकी प्राप्ति में सतत आत्म-संस्कार एवं समाज-सेवा साधन बन जाते हैं। मानव-प्रकृति की अनेकरूपता का ध्यान रख कर वह उन प्रणालियों एवं उपायों का निर्देश करता है जिनका अनुसरण करके प्रत्येक व्यक्ति अपने को पूर्णरूपेण व्यक्त कर सकता है। वास्तविक भेदों को स्वीकार करके वह आदर्श साम्य की स्थापना करता है। वह प्राकृतिक शक्तियों से सहयोग करता है, उनकी अवहेलना नहीं करता। आधुनिक ज्ञान-मंचसे जो इस व्यवस्था की प्रतिकूल आलोचना करते हैं वे भूल जाते हैं कि किसी अन्य देश में इतन भिन्न मानसिक एवं सांस्कृतिक स्तरों के लोग एक ही समाज का अंग कभी नहीं बने। वेद-पूर्व काल के निवासी, जिनसे आर्यगण आकर मिल गये, निम्न कोटि की सभ्यता एवं संस्कृति से युक्त थे। उन्हें शुद्धि-सम्भावना-हीन 'एक जाति' कहलानेवाले चतुर्थ वर्ण में स्थान दिया गया क्योंकि उनमें मस्तिष्क, हृदय अथवा चेष्टा के किसी भी विशिष्ट गुण का विकास नहीं पाया जाता था, शुद्धि-सम्पन्न द्विजाति मस्तिष्क,

हृदय एवं चेष्टा के उत्कर्ष के अनुसार तीन श्रेणियों में विभक्त कर दिये गये। जिनमें बुद्धि का विशेष उत्कर्ष पाया जाता है वे ब्राह्मण हैं; जिनमें प्रेम तथा पराक्रम का उत्कर्ष है वे क्षत्रिय हैं; जिनकी रुचि व्यावहारिक जीवन में ही विशेष है वे वैश्य हैं। ये चारों वर्ण क्रमशः बौद्धिक, सैनिक, व्यावसायिक तथा शारीरिक श्रमजीवियों के समानार्थक हैं। सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार संसार की सेवा करते हैं; ब्राह्मण अपने अध्यात्म, क्षत्रिय अपने पराक्रम, वैश्य अपनी बुद्धि तथा शूद्र सेवा के द्वारा समाज का उपकार करता है।* सभी लोक-हित को वर्ग-हित की तुलना में श्रेष्ठ समझते हैं। स्वार्थ एवं आत्मोन्नति की कामना को न्याय तथा धर्म के उन नित्य सिद्धान्तों से, जिनका दायित्व हमारे ऊपर रख दिया गया है, दबा दिया जाता है। जब प्रत्येक वर्ण अपने-अपने कर्तव्य का पालन करता है तो समाज को न्याययुक्त अथवा धर्म-सम्मत कहा जाता है।

शूद्रों के भी वास्तविक हितों की उपेक्षा नहीं की गई थी। वैश्य व्यापार करते तथा धन एवं सुखभोग में रुचि रखते थे, पर इसमें भी उन्हें जीवन एवं कल्याण की भावना रखनी पड़ती थी। इस वर्ण को एक प्रकार का आर्थिक संघ कहना चाहिए। फिर भी वणिक्-वृत्ति दबी रहती थी क्योंकि उन्हें सुख-साधनों को स्नेह-रज्जु में ही बाँधकर रखना होता था। क्षत्रियों का कर्तव्य था कि वे आन्तरिक अव्यवस्था तथा वाह्य आक्रमणों से समाज की रक्षा करें। देश की सैनिक शक्ति उनके ही अधीन थी। देश की राजनीति का संचालन भी वही करते थे। हिन्दू-धर्म को यह पसन्द नहीं था कि समस्त समाज आवश्यकता

* शुक्रनीति १. ३८-४२

पड़ने पर सैनिक का काम करे। प्रत्येक कार्य में विशेषज्ञता ही कुशलता की जननी होती है। जिनका धर्म ही युद्ध करना तथा अन्याय का बलपूर्वक प्रतिकार करना है, उनकी चित्त-वृत्ति भी वैसी ही होनी चाहिए एवं उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। शासन-कला का मर्मज्ञ प्रत्येक व्यक्ति नहीं हो सकता। लोगों की यह भावना दृढ़ होती जा रही है कि यदा-कदा राजनीति से अपना मनोरंजन कर लेनेवाले लोग, जिनका उद्देश्य अपने निर्वाचकों को सन्तोष देनामात्र होता है तथा जिनकी राजनीतिक पाठशाला लोकप्रिय निर्वाचनों की हुल्लड़बाजी ही है, कभी सफल शासक नहीं बन सकते। एक विशेष वर्ग को सेना तथा शासन का भार सौंप दिया गया था। सम्पूर्ण समाज शासन, प्रभुता एवं शक्ति की उत्कट वासना से पीड़ित नहीं था। आज दुनियाँ पर हुकूमत करने तथा अपने लिए बाजार तलाश करने की भावना से महायुद्ध छेड़े जाते हैं, लोगों के चारित्रिक विकास अथवा कल्याण की भावना से प्रेरित होकर नहीं। राजनीतिक विक्षिप्तता के कारण संसार में महान् अनवस्था है और हम एक अनिश्चित परिणाम की ओर द्रुतगति से विवश बहे जा रहे हैं। कहा जा सकता है कि इसी बात का क्या निश्चय कि शासन-व्यवसायी वर्ग की उपस्थिति से न्यायपूर्ण निस्स्वार्थ राज्य स्थापित हो सकेगा। परन्तु जिस प्रकार की शिक्षा उन्हें दी जाती है, वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि वे अपने कर्तव्य का पालन उचितरूप से करेंगे। इसके अलावा शासकों को 'धर्म" के रद करने अथवा उसमें परिवर्तन करने का अधिकार ही नहीं था, वे तो केवल उसके पालन कराने के लिए नियुक्त थे। 'धर्म' में परिवर्तन तो केवल ब्राह्मण विद्वान् ही कर सकते थे, जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं था एवं जो हठपूर्वक दरिद्रता में

रहकर आध्यात्मिक जीवन बिताते थे। शंका अथवा संकट के अवसर पर धार्मिक समस्याओं का निर्णय वही किया करते थे।

उनका सामाजिक संगठन वही था जो विशिष्ट जन-शासन-प्रणाली का श्रेष्ठतम रूप हो सकता है क्योंकि नियम बनाने का काम निःस्पृह दार्शनिकों के ही हाथ में था। यहूदी, ईरानी तथा केल्ट जातियों में भी क़ानून बनाने का काम पुजारी ही करते थे। ब्राह्मणों के ज्ञान, आत्म-निग्रह, निस्स्वार्थ प्रेम आदिक सद्गुणों के कारण स्वार्थपूर्ण क़ानून का बनना कठिन था। ज्ञानार्जन तथा जीवनोत्कर्ष में निरत ब्राह्मणों का पद शासकों तथा अधिकारियों से ऊँचा था तथा इनको सन्तोष देने-वाला आचरण करने को ब्राह्मण बाध्य नहीं थे। वे सभी सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त कर दिये गये थे ; आध्यात्मिक बातों में वे भौमिक अधिकारियों के अधीन नहीं थे।* यह संस्था मानती है कि सब प्रकार के श्रेष्ठ सुधारों का जन्म पहले किसी एक ही व्यक्ति के मस्तिष्क में होता है और जनसाधारण उससे बचना चाहते हैं। यदि सुधार होने से पूर्व बहुमत उसके पक्ष में होना आवश्यक कर दिया जाय तो समाज कभी आगे नहीं बढ़ सकता। संस्कृति एवं विकास के लिए परमावश्यक है कि विधायक विद्वान् एवं पूर्ण स्वाधीन हों। 'शताब्दी (Century)' नामक पत्रिका में बरट्रेण्ड रशल का एक सुन्दर लेख है। उसमें उन्होंने लिखा है कि "स्वतंत्र न होने से दूरदर्शी व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है।" मनु के अनुसार "एक ज्ञानी का मत लाखों मूर्खों के मतों से श्रेष्ठ होता है"।†

* मनुस्मृति ४. ११

† मनुस्मृति १२. ११३

आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों के अनुकूल ही तत्सम्बन्धी धर्म-नियमों का सृजन किया गया है। वैश्य सुखोपभोग की कामना लेकर ममतापूर्वक जीवन से चिपटा रहता है। क्षत्रिय संगठन एवं सुव्यवस्था के लिए उसका विसर्जन कर देता है और बलपूर्वक अनाचार का दमन करता है। ब्राह्मण दृढ़ निश्चय एवं अदम्य उत्साह के साथ अहिंसा का जीवन बिताता है। उसकी अहिंसा दुर्बलता अथवा कायरता की नहीं, वरन् आत्म-शक्ति एवं दिव्य प्रेम की सूचक है। वह क्षत्रिय की अवस्था को पार कर चुका है तथा उसने उसको सच्चे भक्त के अयोग्य पाया। शताब्दियों के परम्परा-प्राप्त अभ्यास एवं वातावरण के प्रभाव ने हिन्दू को विनम्र, निष्क्रिय, मननशील, ब्राह्मण, संन्यासी के आदर्श का पुजारी बना दिया है। आज भी गांधी-जैसे क्षीणकाय महात्मा के सम्मुख वह पूर्ण श्रद्धा तथा अविचल भक्ति से नतमस्तक हो जाता है।

ब्राह्मणेतर वर्णों की व्यवस्था करने तथा क्षत्रियों का कर्तव्य ही युद्ध घोषित कर देने से अनेक लोगों का यह विश्वास हो गया है कि हिन्दू-धर्म का आधार अहिंसा नहीं है। लोग इस सीधी बात को भूल जाते हैं कि उच्च स्तर तक पहुँचने के लिए निम्न कोटि को पार करना आवश्यक है। हम जितना ही ऊपर चढ़ते हैं, उतना ही हमारा जीवन अधिक त्यागमय हो जाना चाहिए। ईसा को अपने कंधों पर बिठाल कर नदी के पार ले जानेवाले साधु क्रिष्टफ़र की कथा हम सब पर चरितार्थ होती है। वह जितना ही अधिक गहरे पानी में बैठता गया उसका भार उतना ही अधिक बढ़ता गया। धीरे-धीरे वासनाओं को जीतकर संसार के आध्यात्मिक मूलाधार के बढ़ते हुए ज्ञान के द्वारा शूद्र वंश में जन्म लेनेवाले सब मनुष्य क्रमशः ऊपर को उठते हैं और

ब्राह्मण न बन जाने तक बढ़ते ही जाते हैं। जितना ही ऊपर हम उठते हैं, हमारा बोझ उतना ही बढ़ता जाता है और इस वर्द्धित भार के अनुपात से ही हमारी शक्ति बढ़नी चाहिए। क्षत्रिय, हीन वर्ण होने से बल प्रयोग कर सकता है—यद्यपि विशुद्ध हृदय एवं घृणारहित बने रहकर—पर ब्राह्मण तो किसी दशा में भी घृणा अथवा बल-प्रयोग नहीं कर सकता। वर्णों में जो अपेक्षाकृत भेद है वह भी पूर्ण आदर्श की दृष्टि से ठीक है। हम इसका भी एक उदाहरण देते हैं। आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त भी मनुष्य तथा पशुओं में एक ही जीवन-प्रवाह माननेवाले हिन्दू-मत की पुष्टि करता है। हिन्दू-धर्म जीवमात्र को आदर की दृष्टि से देखने पर उनके प्रति स्नेह एवं करुणा के प्रसार पर ज़ोर देता है। अहिंसा का नियम पशुओं के लिए भी है। उसका तो यह भी सिद्धान्त है कि मांस-भक्षण मनुष्यों की उदात्त वृत्तियों में जड़ता का संचार करता है। वह शरीर को जितना पुष्ट नहीं करता उतना मन को दुर्बल बनाता है। ईसा भी तो स्पष्ट कहते हैं कि पशुओं को भी अवध्य समझना चाहिए क्योंकि बिना ईश्वर की मरज़ी के एक गौरैया को भी मृत्यु नहीं हो सकती। पर भारतवासी मांसाहारी थे, अतएव ऐसे नियम बनाये गये जिससे मांस-भक्षण चतुर्थ वर्ण के ही लिए विहित रह गया और शेष समाज के लिए साधारणतः उसका निषेध कर दिया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-समाज समुदायतः मांस खाना छोड़ता जा रहा है।

वर्ण का आर्थिक महत्त्व है। आजकल पाई जानेवाली जातियों में से अनेक तो केवल व्यावसायिक समुदाय हैं। सब कोई सब कुछ नहीं कर सकता और न वह यह समझता ही है कि वह चाहे जिस व्यवसाय को सफलतापूर्वक चला सकता है। लोगों को काम की खोज में भी

नहीं भटकना पड़ता। उनका काम पहले से ही निश्चित रहता है। निर्बाध प्रतियोगिता एवं स्वार्थपूर्ण व्यक्ति-प्राधान्य का दमन किया जाता है। प्रत्येक काम अथवा व्यवसाय को धार्मिक स्वरूप दे दिया गया है। थवई तथा बढ़ई, कुम्हार तथा ग्वाला विश्वास करता है कि अपना-अपना काम करके वह ईश्वर की इच्छा का पालन करता है और समाज की सेवा करता है। बड़े पैमाने पर चलनेवाले उद्योगों तथा मिलों के इस युग में हम जरा भी नहीं सोचते कि परिवार से दूर रह कर किसी बड़े मिल में काम करनेवाले मज़दूर मशीन की तरह जिस काम में जुटे रहते हैं, उसमें उन्हें आनन्द नहीं मिलता। जाति-व्यवस्था में एक ही व्यवसाय में काम करनेवाले सब लोग अपने स्वाभाविक वातावरण में काम करते हैं, उन्हें घर से दूर जाकर थोड़े वेतन पर अधिक समय तक काम करने को विवश नहीं होना पड़ता। सौन्दर्य, स्नेह तथा सामाजिक कर्तव्य की भावना से युक्त पूर्ण जातीय जीवन मज़दूर को आनन्द देता है। उसके कुटुम्ब के लोग काम में उसका हाथ बँटाकर उसे माधुर्य तथा कोमलता से भर देते हैं। यदि अल्पवयस्क बच्चों तथा स्त्रियों का काम करना आवश्यक ही हो तो यही अधिक उपयुक्त है कि वे घरेलू वातावरण में ही काम करें जहाँ अपनी रचना-प्रवृत्तियों को वे स्वनिर्मित वस्तुओं में मूर्त कर सकें। प्रतियोगिता में सफलता अथवा ग्राहकों के सन्तोष की अपेक्षा यहाँ पर कर्तव्य-पालन के लिए उन्हें श्रेष्ठतर प्रेरणा मिल सकती है। एक ही पेशे के लोगों में सामुदायिक सद्भावना एवं व्यावसायिक मर्यादा का विकास होता है। वातावरण के विकासक प्रभाव से छोटे-छोटे बच्चों को उपयुक्त व्यावसायिक शिक्षा मिल जाती है। अज्ञातरूप से वे व्यवसाय-परम्परा में दक्ष हो जाते हैं और इस प्रकार अपनी रुचि के अनुकूल

आत्मानुमोदित व्यवसाय में लग जाते हैं। यह सच है कि आधुनिक परिस्थितियाँ कुटीर-उद्योग अथवा छोटे पैमाने के उत्पादन के प्रतिकूल हैं; पर सभी जगह तो ऐसा नहीं है। ललति कलाएँ, सजावट के काम एवं कताई तथा बुनाई के काम आदि किसानों के सहायक व्यवसाय के रूप में घर पर चल सकते हैं और तेल के इंजन अथवा बिजली से चलने वाले छोटे-छोटे कारखाने भी खोले जा सकते हैं। व्यावसायिक संघ के रूप में जाति-व्यवस्था अभी बेकार नहीं हुई है। यद्यपि आरम्भ से ही जीवन के निश्चित कार्यक्रम बना लेने का प्रस्ताव अनुचित नहीं कहा जा सकता, फिर भी नैसर्गिक प्रतिभा तथा वैयक्तिक प्रवृत्ति का कुछ भी ध्यान न रख कर किसी पद्धति विशेष को स्थिर रूप दे देने का यह भी परिणाम हो सकता है कि व्यक्ति का जीवन दासता की जंजीर में जकड़ जाय और वह आधुनिक युग की जटिल परिस्थिति के अनुकूल अपने को न बना सके।

वस्तुतः किसी भी व्यक्ति की जाति उसकी बुद्धि, मनोवेग अथवा चेष्टा के प्राधान्य से निर्धारित होती है। ये स्थूलरूप से सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक तीन गुणों के व्यंजक हैं।* मनु ने जाति-निर्णायक तीन बातों का उल्लेख किया है—तपस् अथवा व्यक्तिगत प्रयास, श्रुतम् अथवा सांस्कृतिक वातावरण एवं योनि अथवा वंशानुक्रम। पहला नियम काफ़ी अनिश्चित है और उसका वैज्ञानिक उपयोग सम्भव नहीं। दूसरा पारिवारिक प्रभावों पर आश्रित है जो स्वयं जन्म-जात संस्कारों पर आश्रित रहते हैं। व्यावहारिक लक्षण केवल जन्म रह जाता है और उनका मत हिन्दुओं को स्वीकृत कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त के ही अनुकूल है।

* देखो भविष्यपुराण ३, ४-२३

भिन्न-भिन्न जातीय संस्कारों से युक्त मनुष्य एक साथ सौहार्द्र तथा शान्तिपूर्वक वर्ण-व्यवस्था को मानकर ही रह सकते हैं। इसके संस्थापकों का विश्वास था कि यद्यपि जन्म समाज-विभाग का सर्वोत्तम परिचायक है पर उसका वास्तविक आधार आध्यात्मिक संस्कार ही हो। मनु यहाँ तक मानते हैं कि विशुद्ध एवं साधु आचरण के पुरुष पैतृक संस्कारों पर विजय पा जाते हैं।* महाभारत के अनुसार "उच्चता की कसौटी निर्मल चरित्र है, जाति अथवा विद्वत्ता नहीं"।† जन्म के अलावा और सब बातों की हमने पूर्ण उपेक्षा कर रखी है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि लोग सदा के लिए एक अनुल्लंघ्य सीमा में बन्द हो गये, भावी पीढ़ियाँ इस व्यवस्था की दास बन गईं एवं सामाजिक विकास अवरुद्धप्राय हो गया। इस व्यवस्था के परिवर्तनाक्षम बाधासंकुल रूप में जीवन के स्वाभाविक प्रवाह का कोई ध्यान नहीं रखा गया। हमारे समाज में इतना भेदभाव, इतनी बड़ी सम्बन्ध-हीनता आ गई है कि जाति के सिद्धान्त को गौण माने बिना काम नहीं चलता दिखाई देता। ऐसी ही स्थिति की ओर संकेत करते हुए महाभारत में लिखा गया है—"विवाहों के द्वारा इतनी बड़ी संकरता आ गई है कि जाति का नियम व्यर्थ हो गया है। हमें मुख्य स्थान शील को देना चाहिए। प्रथम मनु का कहना है कि शील का ध्यान न रखकर केवल जाति को सब कुछ समझना अर्थहीन है।"‡

छात्र-जीवन की शिक्षा एवं अभ्यास के बावजूद भी वर्ण-धर्म की

* इस विषय में महाभारत-वाण पर्व, अध्याय २१६ भी पठनीय है

† वृत्तमेव—महाभारत-वाण पर्व, अध्याय ३१४

‡ वन पर्व १८२ देखो मनुस्मृति ४—२२४, २२५

भिन्नता के कारण लोगों में मिथ्याभिमान एवं दूरत्व की भावना का आ जाना सम्भव था, अतः सबके साथ एक-सा व्यवहार करने के नियम पर काफ़ी ज़ोर दिया गया है। जैसे व्यवहार की हम दूसरों से आशा करते हैं वैसा ही व्यवहार दूसरों के साथ करना सर्वश्रेष्ठ गुण समझा जाता है। विष्णु पुराण में लिखा है—"तुम्हें सर्वत्र समत्व-दर्शन करना चाहिए क्योंकि साम्य-भावना ही, समत्व ही, ईश्वर की उपासना है।"* अहिंसा, सत्य, निश्छल व्यवहार, पवित्रता तथा आत्म-निग्रह आदि ऐसे कर्तव्य हैं जिनका पालन सबके लिए समान भाव से अनिवार्य है।† आखिर वर्ण-विभेद हमारी अपूर्णताओं के ही कारण तो हैं, अतएव उसके लिए गर्व करने की कौन-सी बात है। भगवान् में वर्ण-भेद कहाँ है! जाति-भेदों का विधान केवल गृहस्थ-आश्रम के लिए है। यहाँ भी मानवता से बढ़कर उनका स्थान नहीं समझा जाता। आज इस बात की जरूरत है कि जाति-भेद के मूल सिद्धान्त को तो हम स्वीकार कर लें पर एक अधिक उदार सामाजिक मनोवृत्ति विकसित करने का अभ्यास करें। जीवन-सुविधाओं को घातक संकीर्णता एवं कठोर नियमों से जकड़ रखना मानवता एवं सौहार्द्र के आदर्श के प्रतिकूल है, अतः उनका परित्याग करना होगा। मनु ने उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया—"किसान, परिवार का शुभ-चिन्तक, ग्वाला, नौकर, नाई तथा सेवा-भाव से आनेवाले ग़रीब अपरिचित शूद्र के हाथ से भी भोजन ग्रहण कर लेना चाहिए।"‡

* अध्याय १७

† मनुस्मृति १०-६३, ६-६१, ६२

‡ मनुस्मृति ४, २२३

भारत में मुसलमानों के आगमन से पूर्व जाति-भेद इतना अनुल्लंघ्य नहीं था। सामाजिक नियमों में तरलता थी तथा विकास के लिए आवश्यक परिवर्तन को किसी कठोर नियम के अनुरोध से बलिदान नहीं कर दिया जाता था। पुराणों में ऐसे पुरुषों तथा परिवारों की कथायें हैं जिन्हें हीन वर्ण से उच्च वर्ण प्राप्त हो गया था। उत्थान तथा पतन की सम्भावना मनु को भी मान्य है।* पुण्य क्रमिक शुद्धि के द्वारा वर्ण-परिवर्तन के लिए कुछ नियम है।† पुण्य करके निम्न कोटि से ऊपर उठना सम्भव था। जब भारत में हिन्दुओं का राजनीतिक प्रभुत्व लुप्त हो गया और यहाँ के नये शासकों ने बलात् धर्म-परिवर्तन की नीति को अपना लिया तो सामाजिक भावना ग़ायब हो गई तथा धर्म-नियम और रीतियाँ अन्धविश्वास बन गई, जिसका राष्ट्रीय संगठन पर बड़ा ही भयंकर परिणाम हुआ। हमें धर्म की उस मूल भावना को पुनः प्राप्त करना होगा जो कुछ विशेष रूपों तक ही सीमित नहीं थी प्रत्युत् जो पुराने रूपों को बदलकर तथा नये-नये रूपो का विकास करके नित्य नये रूपों में व्यक्त हुआ करती थी। राजनीतिक संकट के समय जाति-व्यवस्था को जो विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया था, अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रही। भविष्य में वर्ण तभी रह सकेगा जब उसे सामाजिक सम्बन्धों तक ही सीमित रखा जाय। प्रत्येक समाज का नियम है कि ब्याह-सम्बन्ध लोग उन्हीं लोगों से करते हैं जो समान स्वभाव तथा आचार रखते हैं। चूँकि एक ही व्यवसाय के लोगों में सामान्य सांस्कृतिक परम्परा का विकास अधिक सम्भव है, अतः समान

* मनुस्मृति १०, ४२; ६, ३३५

† मनुस्मृति १०, ५७-६५

व्यवसाय के लोगों में व्याह-सम्बन्ध का एक नियम-सा हो जाता है। प्राचीन भारत में भी असवर्ण विवाह को मना नहीं किया गया था यद्यपि उसको प्रोत्साहित भी नहीं किया गया। अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह कम ही होते थे पर हिन्दू-क़ानून की दृष्टि में वे अवैधानिक नहीं हैं।* इस प्रकार के विवाह बड़ी संख्या में इसलिए नहीं होते कि वे जाति के निकटतम औद्योगिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन में गड़बड़ी उत्पन्न कर देते हैं। जाति-भेद यदि निकट सामाजिक सम्बन्ध का ही आधार रहे तो वह राष्ट्रीय जीवन के बड़े क्षेत्र में बाधक नहीं हो सकता। सम्राट् अशोक ने अपने हिन्दू मंत्री से कहा था—"विवाह तथा निमंत्रण के समय वर्ण का विचार करना चाहिए, धर्म के प्रश्न में नहीं, क्योंकि धर्म का सम्बन्ध सद्गुणों से होता है और सद्गुणों एवं वर्णों में कोई सम्बन्ध नहीं।"†

यह कहना कि हिन्दू समाज-सेवा से अपरिचित हैं, एक साहसपूर्ण असत्य है। अछूत जातियों का प्रश्न लेकर बड़ा कोलाहल मचाया जाता है, पर लोग इस बात को भूल जाते हैं कि स्वतंत्र भारत ने अछूतों का जितना उपकार किया है उतना उपकार आज के युग में किसी भी स्वतंत्र देश ने अपनी पिछड़ी जातियों का नही किया। उन्नत राष्ट्रों ने तस्मानिया तथा ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियों को, कुछ मावरी जातियों तथा उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियन लोगों को किस प्रकार सभ्य बनाया है? संस्कार करते-करते या तो उन्हें बिलकुल लुप्त ही कर दिया है तथा जहाँ वह सम्भव नहीं हो सका, वहाँ उन्हें पाप तथा अपराध के

* देखो बॉम्बे लॉ रिपोर्टर भाग २४, गुलाब बाई बनाम हीरालाल

† इंडियन सोशल रिफ़ार्मर—जून ४,१६२२

उस गम्भीर खड्ड में गिरा दिया है जो बर्बर जीवन के किसी भी स्वाभाविक रूप को तुलना में अधिक हीन है। यदि ब्रिटिश-रक्षा में काफ़िर तथा डच लोगों की अभिभावकता में जावा-निवासियों की वृद्धि हुई है, यदि स्ट्रेट सेटिलमेण्ट तथा ब्रिटिश भारत के निवासी इन सुधारकों के रहते भी ग़ायब नहीं हो गये हैं तो इसीलिए कि दयालु परमात्मा ने उन्हें ऐसे जलवायु में पैदा किया है जो उनके सुधारकों के अनुकूल नहीं पड़ती। योरोपीय निवासी उष्ण-कटिबन्धों को कभी अपना निवास-स्थान नहीं बना सकते। वे वहाँ शासन कर सकते हैं, पर बस नहीं सकते। यदि प्राकृतिक बाधाएँ न होतीं तो इन कटिबन्धों का इतिहास दूसरा ही होता। जिस समय से आर्यगण इन कम सभ्य जातियों के सम्पर्क में आये तब से बराबर उनका यह प्रयास रहा कि कुछ ऐसा प्रबन्ध किया जाय, जिससे ये जातियाँ सामाजिक अथवा आध्यात्मिक विकास कर सकें। आर्यों ने इस अनार्य कृष्ण वर्ण जातियों के प्रतिनिधि कृष्ण को भी स्वीकार कर लिया और उसके द्वारा वह उपदेश दिलवाया जो ईश्वर को सबका पिता तथा मनुष्यों को भाई-भाई बताता है। कृष्ण के आचरण से समाज ने अपने को अपमानित समझा तथा इन्द्र एवं ब्रह्मा नामक वैदिक देवता क्रुद्ध हो गये। आज इन देवताओं के उपासक आर्य कृष्ण को भगवान् का अवतार मानते हैं। पर कृष्ण, आर्य-पण्डितों का बड़ा सम्मान करते थे और कहा जाता ह कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण-अतिथियों के पैर उन्होंने अपने ही हाथ से धोये थे। आर्यो ने अनार्य देवताओं के साथ बड़ा सुन्दर व्यवहार किया, जहाँ सम्भव हो सका उनमें संस्कार किया एवं जहाँ आवश्यक हुआ उनको आर्य-देवताओं के अधीन कर लिया। महिषासुर के उपासकों को बताया कि ब्रह्म महिष से श्रेष्ठ हैं। नागोपासकों को

समझाया कि इन नागों से महान्, नागों के स्वामी, नागेश्वर कृष्ण हैं जिन्होंने नागराज कालिय के फन पर नृत्य किया था। निम्न वर्ग के लोगों के क्रमिक सभ्य होने के चिह्न भारतवर्ष के समस्त सांस्कृतिक इतिहास में बिखरे पड़े हैं। जब-जब लोक-प्रवृत्ति ने सामान्य मानवता की उपेक्षा की तब-तब कोई-न-कोई शंकर अथवा बुद्ध उठ पड़ा तथा ऊँच-नीच सबके समान भविष्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। देश का विस्तार, २,००० मील लम्बाई तथा १,५०० मील चौड़ाई, उतना नहीं है जितना डैन से बीरशेवा तक का। जो यातायात के साधन आज उपलब्ध हैं वे अभी हाल तक नहीं थे। यदि पिछड़ी हुई जातियों को सभ्य बनाने का काम हिन्दुओं ने उत्साह तथा सफलता के साथ न किया होता तो आज अछूतों की संख्या पाँच करोड़ से कहीं अधिक होती। जब विदेशियों का आक्रमण हुआ तो हिन्दू घबरा गये एवं आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने तात्कालिक सामाजिक विभाग को स्थायी बना दिया। परिणामतः कुछ जातियाँ वर्ण-व्यवस्था के बाहर ही रह गईं। यद्यपि मनु का कहना है कि "पंचम वर्ण है ही नहीं"* फिर भी जिन जातियों पर अभी तक धर्म का प्रभाव नहीं पड़ा था वे पंचम वर्ण बन गईं। "जो अपने कर्तव्य से च्युत है, क्रूर तथा निर्दय है और दूसरों को दुःख देता है, जो कामी तथा संहार की भावना से पूर्ण है वह म्लेच्छ है।"† इन लोगों की शोचनीय दशा का जितना वर्णन किया जाय, थोड़ा है। किसी भी व्यक्ति की उपेक्षा केवल इसलिए करना कि वह नीच है अथवा किसी भिन्न जाति का ह, हिन्दू-धर्म के

* १०, ४

† शुक्रनीति १, ४४

विरुद्ध है। अब जब शान्ति स्थापित हो चुकी है तो हिन्दू-नेता इस प्रमुख सत्य को बार-बार घोषित कर रहे हैं कि नीच-से-नीच पुरुष में भी आत्मा है और हमें कभी यह न समझना चाहिए कि उसका सुधार हो ही नहीं सकता।

वाणप्रस्थ तथा संन्यास नामक अन्तिम दोनों आश्रम, जिनको सुविधा के लिए हम एक ही समझ सकते हैं, उन लोगों के लिए हैं जो प्रतियोगितापूर्ण जीवन-संघर्ष से अवसर ग्रहण कर चुके हैं। भारतीय पुरुषों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण संन्यासी है। पक्षपात, घृणा एवं वासना का पूर्ण विनाश करके व्यक्ति स्वार्थ-परायणता की निम्न कोटि से आत्म-विसर्जन की उच्चता तक जा पहुँचा है। वह सब संस्थाओं में रह चुका है और अब उन सबसे परे है। अब उसका भावुक जीवन भगवत्भक्ति अथवा ईश्वर-प्रेम में प्रकट होता है, पाशविक वासना अथवा वैयक्तिक सुखाभिलाषा में नहीं। उसे मानवता की एकता तथा सम्पूर्णता का प्रत्यक्षानुभव हो जाता है एवं वह सब प्रकार के अन्ध-विश्वासों तथा दुराग्रहों से मुक्त हो जाता है। उसकी समस्त शक्ति का उपभोग मानव-सेवा में होता है क्योंकि वह जानता है कि ईश्वर सब मनुष्यों में है एवं सब मनुष्य ईश्वर ही हैं।* जो सबको एक में देखता है, जिसमें अहम् सर्वभावना से दब गया है, वह पाप कर ही नहीं सकता।† वही भगवद्गीता का पुरुषोत्तम, बौद्धों का बुद्ध, सच्चा ब्राह्मण है जिसे अपनी दरिद्रता का गर्व है, जो अपने कष्टों में ही प्रसन्न है तथा जो शान्ति एवं आनन्द को हृदय में रखकर स्थितप्रज्ञ हो जाता

* सर्व भूतमयम् हरिम्——विष्णुपुराण १, १९, ९

† मनुस्मृति १२, ११८

है। वह सब मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियों को प्रेम करता है, अन्याय का प्रतिकार नहीं करता वरन् प्रेम से उसे जीत लेता है। उसमें मानव-आत्मा का श्रेष्ठतम स्वरूप दिखाई पड़ता है। उपनिषत्कालीन ऋषियों के युग से संन्यासियों के आदर्श से भारतीय जीवन सदा ही प्रभावित रहा है। इस आदर्श के पालन करने के लिए राजा अपने दण्ड तथा मुकुट को छोड़कर दरिद्रतासूचक कपड़े पहन लेता है, योद्धा विजय-गर्व भूल कर अपने अस्त्र-शस्त्र तोड़ फेंकता है एवं कुशल व्यापारी तथा मज़दूर दृढ़तापूर्वक फल को भगवान् पर छोड़कर अपने कर्तव्य-पालन में संलग्न हो जाता है।

संन्यासी मानवता के उपकारक एवं सहायक होते हैं। उनमें जो सर्वश्रेष्ठ हैं, जैसे शंकर तथा रामानुज, रामानन्द और कबीर, वे तो जाति के रक्त में भिद गये हैं एवं उन्होंने ही उसके धर्म की नींव डाली है। यह सच है कि मध्यकालीन योरोप की ही भाँति भारत में भी बहुतेरे संन्यासियों ने सांसारिक चिन्ताओं से बचने के लिए एकान्त में भाग जाने की ग़लती की। मठों की सुनसान कोठरियों में अथवा पहाड़ों की कन्दराओं में जीवन बितानेवाले ये संन्यासी गहन अन्धकार के पथ-भ्रष्ट यात्री हैं। पाप के निरन्तर ध्यान एवं अपनी मुक्ति की चिन्ता में संलग्न ये तपस्वी, मालूम पड़ता है, अपनी आत्मा की रक्षा करने की व्यग्रता में ही उससे हाथ धो बैठे। जिस प्रकार मध्ययुगीय योरोप में मठ-जीवन का जो तूफान उठा वह ईसा के उस उपदेश के बिलकुल प्रतिकूल है जो हमसे कहता है कि हमें अपने को विश्वासपात्र सेवक बनाना है, निरीक्षण-कार्य में नियुक्त चौकीदार, कार्याध्यक्ष जिसके ऊपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, पुत्र जिससे पिता अपने गुप्त रहस्यों की चर्चा करता है, बनाना है, उसी प्रकार जीवन-संघर्ष से पराङ्मुख ये पुरुष

यथार्थ संन्यासी नहीं हैं। संन्यासी तो लोक-कल्याण के लिए परम विनम्रता, अटल विश्वास एवं निश्छल प्रेम के साथ सब कुछ सहन करने को सदा तैयार रहता है।

उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए, ब्राह्मण बनने के लिए, यह आवश्यक नहीं है कि धर्म-नियमों का अक्षरशः पालन किया जाय। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ धर्म-वृत्ति एकाएक जाग पड़ी है—नितान्त साधारण प्रतीत होनेवाले लोगों में उच्च आध्यात्मिकता की बाढ़ तथा उच्च वर्गीय जीवन की शिक्षा से हीन व्यक्तियों में आश्चर्य-जनक चारित्रिक विकास भी देखने को मिलता है। धार्मिक नियम तो आध्यात्मिक विकास के सामान्य रूप के द्योतक हैं। निम्न श्रेणी के लोगों के निरर्थक श्रम-साध्य नियम-पालन पर तथा कर्मकाण्ड के औचित्य के सम्बन्ध में चिन्तापूर्ण प्रश्नों पर मुक्तात्माएँ हँसा करती हैं। सभी वर्णों के लोग संन्यास-आश्रम में जा सकते हैं, पर बिना तीनों ऋणों से उऋण हुए किसी को भी मुक्ति की इच्छा नहीं करना चाहिए*—देव-ऋण से स्तुति एवं प्रार्थना के द्वारा, पितृ-ऋण से दान, समाज-सेवा तथा सन्तानोत्पादन के द्वारा, ऋषि-ऋण से विद्या-दान के द्वारा उऋण हुआ जा सकता है।

जीवन से विरक्त वयोवृद्ध तथा सांसारिक सफलता के लिए समुत्सुक युवा आदि सभी प्रकार के लोगों के लिए हिन्दू-धर्म में स्थान है। चारों वर्ण कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग नहीं हैं जिनमें हिन्दुओं को ही विभक्त किया जा सकता है प्रत्युत् वह तो एक ऐसा वर्गीकरण है जिसमें सम्पूर्ण संसार का समावेश हो सकता है। बिना शक्ति-प्रयोग के

* मनुस्मृति ६, ३५

एवं बिना शोषण की भावना के एशिया के एक बहुत बड़ भाग को हिन्दू-धर्म ने सभ्य बना दिया है। यह काम उसने साम्राज्य-विस्तार के प्रलोभन में आकर नहीं किया वरन् सांस्कृतिक विजय की कामना से, अपनी आध्यात्मिकता से लोगों के विचारों एवं हृदयों को प्रभावित करके किया है। हिन्दू-प्रतिभा की रचनात्मक प्रवृत्ति मध्य एशिया में स्थित खोतान से लेकर भारत एवं आॅस्ट्रेलिया के बीच में स्थित जावा द्वीप तक सर्वत्र कला एवं जीवन में फैल गई। ईसा की दूसरी शताब्दी में जावा एक हिन्दू-उपनिवेश था और तब से बराबर वह हिन्दू अथवा बौद्ध रहा है। आज जापान, चीन तथा बर्मा भारत को अपनी आध्यात्मिक मातृभूमि मानते हैं, वैसे ही जैसे ईसाई फिलस्तीन को। रूस से चीन तक समरकन्द तिब्बत आदि जहाँ भी हम जायँ, हमें हिन्दू-सभ्यता का प्रभाव मिलेगा। यह सब बिलकुल साधारण प्रतीत होता है जब हम यह याद करते हैं कि भारतीय सभ्यता के चिह्न पश्चिमी एशिया में, दजला एवं फ़रात नदियों से सिंचित मेसोपोटामिया के दोआब में भी पाये जाते हैं। बोगज़ कोय में जो खुदे हुए लेख पाये गये हैं, जो योग्य पण्डितों की राय में कम-से-कम १४०० वर्ष ईसापूर्व के हैं, वे हमें उनकी बात बताते हैं जो हिन्दू-देवताओं के उपासक थे। भारतवर्ष का यह इतना बड़ा प्रभाव इसलिए नहीं है कि उसका धर्म इतना प्राचीन अथवा उसका साम्राज्य इतना बड़ा है, इसलिए भी नहीं कि उसने संहारक शस्त्रास्त्रों का निर्माण किया है अथवा उसने बहुत बड़ी मात्रा में बल-प्रयोग किया है, वरन् इसलिए कि इस नानात्व के नीचे एकत्व का ज्ञान उसे था। जहाँ भी भारतवासी गये वहाँ सब पदार्थों की एकता भगवान् में कर लेने की भावना भी उनके साथ गई। जितने महान् विचार भारत में आये उन सबका संश्लेषण इसी रूप में किया गया। उसने

सभी धर्मों का स्वागत किया क्योंकि ध्यान की नभस्पर्शी उच्चता से उसने यह अनुभव कर लिया कि पर्वत-शिखर पर का आध्यात्मिक प्रदेश एक ही है यद्यपि घाटियों से उस तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न है। जो लोग बिना यह जाने कि सब रास्ते एक ही चोटी तक पहुँचने के विविध मार्ग हैं, मैदान में भटकते फिरते थे, उनको उसने बताया--"आँखें खोलो। घाटी की वस्तुएँ हमें अलग किये हैं। चोटी पर हम सब एक हैं। पहाड़ी के नीचे खड़े रहने पर इस मार्ग की विविधता का अवश्य कुछ अर्थ है किन्तु अगर हमें इस बात का ज्ञान हो जाय कि हिमाच्छादित शिखरों पर उनका क्या महत्त्व है तो हमें पता चलेगा कि वे सब एक ही परमात्मा तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न रास्ते हैं।" सम्भव है कि अपनी समन्वय-शक्ति के कारण भारतवर्ष एक बार फिर संसार के उन प्रबल धार्मिक प्रवाहों में सामंजस्य स्थापित कर सके जिनका सम्मिलन उसी अन्तरात्मा में हुआ है।

# ३

# ईश्वर के सम्बन्ध में हिन्दू-मत

मानव-संस्था होने के नाते धर्म एक जीवधारी प्राणी के समान है। इसमें उसी प्रकार की सम्पूर्णता अथवा आत्म-वैलक्षण्य होता है जैसा अन्य जीवधारियों में। वह अचल, स्थिर न होकर सतत गतिशील रहता है। उसका तत्त्व उसके विगत जीवन में नहीं मिल सकता है और न उसके वर्तमान रूप में ही वह पाया जा सकता है। धर्म की व्याख्या हमें उसके वास्तविक अर्थ, उसके लक्ष्य को ध्यान में रखकर करनी होगी, उसकी अस्फुट अथवा अर्धप्रस्फुटित अभिव्यक्ति म नहीं, ठीक वैसे ही जैसे येम्पीडाकिलस की व्याख्या अरिस्टाटिल ने की थी (मेटाफ़िज़िक्स १, ९८५ अ ३)। यदि हम किसी धर्म की क्रमिक अवस्थाओं के इतिहास का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि उसमें एक ऐसा भौतिक गम्भीर तत्त्व है जो सदा नये-नये रूपों में अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया करता है पर जो कभी पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता। यह वर्द्धमान आदर्श, यह गत्यात्मक सिद्धान्त ही, जो किसी भी विशिष्ट अवस्था में अपूर्ण रूप से ही प्रकाशित रहता है, वास्तविक तत्त्व है, यही उस समस्त

ऐतिहासिक गति का वास्तविक अर्थ है।

यदि हम हिन्दू-धर्म का तत्त्व जानना चाहें तो वह हमें आध्यात्मिक अनुभूति की वास्तविकता में मिलेगा। अपने अन्तस्तल में हमने सत्य को दृढ़तापूर्वक पकड़ रखा है। हिन्दू-धर्म के सम्पूर्ण इतिहास में धर्म की इस आभ्यन्तरिकता पर, उसके वैयक्तिक अथवा प्रयोगात्मक स्वरूप पर, जोर दिया गया है। जब हिन्दू वैदिककाल को अपने संस्थापकों का युग कहकर स्मरण करते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि वैदिक ऋषि पथ-प्रदर्शक थे, आध्यात्म देश के प्रथम अन्वेषक थे। ऋषि शब्द 'दृश' धातु से बना है जिसका अर्थ 'देखना' होता है। धर्म का अर्थ दृष्टि विषय, दर्शन, अनुभूति होता है। ऋषियों ने जिस सत्य की घोषणा की है वह तर्क अथवा नियमित दर्शन का फल नहीं है प्रत्युत् आध्यात्मिक सूझ का परिणाम है। ऋषियों को वेद में निबद्ध सत्यों का रचयिता नहीं समझा जाता वरन् वे तो उनके देखनेवाले भर हैं जिन्होंने अपनी आत्मा का विश्वात्मा से तादात्म्य करके उन चरम सत्यों का दर्शन कर लिया है। उनके वचनों का आधार आवेशपूर्ण सूझ नहीं है वरन् हृदय में स्थित शक्ति एवं जीवन का अनवरत अनुभव है। "सदा पश्यन्ति सूरयः।" वेदों को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण इसीलिए माना जाता है कि वास्तविकता ही सबसे बड़ी प्रामाणिकता है। ईश्वर हमारा प्रिय आदर्श नहीं है, वह तो उस सत्य का नाम है जिसका हम अनुभव करते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति किसी काल्पनिक विचार को नहीं, सत्य के निकटतम साहचर्य को कहते हैं।

जिस महात्मा ने भगवान् का साहचय प्राप्त किया है केवल उसके सम्बन्ध की चर्चा सुनकर ही उसे नहीं जाना है, वह उसकी परिभाषा नहीं चाहता। उसके लिए शंका अथवा अविश्वास करना असम्भव है।

उसके इस अद्भुत एवं सरल निश्चय को कोई भी डिगा नहीं सकता। किन्तु जिन्होंने धर्म का ज्ञान दूसरों से सुनकर प्राप्त किया है, जो धार्मिक बनने का कष्ट तो नहीं उठाना चाहते पर धर्म से प्राप्त होने वाले सन्तोष का उपभोग करना चाहते हैं, जो धर्म का पथ-दर्शक चमत्कारपूर्ण कहानियों अथवा कर्मकाण्ड की संस्कार-पद्धति को बनाना चाहते हैं, उन साधारण मनुष्यों के लिए इस अनुभूति को चित्रात्मक रूप देने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त अपने अनुभव को दूसरे पर व्यक्त करने का, उसके रहस्यों को विशद रूप देने तथा विरुद्ध आलोचना से उसकी यथार्थता की रक्षा करने का एकमात्र साधन भाषा तथा तर्क है। हिन्दू-धर्म में ईश्वर की व्याख्याएँ सभी प्रकार की संस्कृति के लोगों के अनुरूप पाई जाती हैं—बिलकुल स्थूल भी तथा परम सूक्ष्म भी।

इस अन्तर्ज्ञान से युक्त व्यक्ति जब अपने अनुभव को साधारण तर्क की भाषा का रूप देना चाहता है तो वह एक अनिवार्य प्रबल विश्वास के साथ, जो स्वाभाविक है, इस अलौकिक सत्य का प्रतिपादन करता है। वह जानता है कि आत्मा का निकट, सीधा तथा निश्चित सम्बन्ध एक ऐसे लोक से है जो इन्द्रिय-जगत् से भिन्न है, जो इन्द्रियों के इस सामान्य लोक से अत्यधिक तेजपूर्ण होकर भी उससे किसी प्रकार कम सत्य नहीं है। तर्क, अन्तर्ज्ञान एवं आध्यात्मिक अनुभूति सब एक स्वर से उस सत्ता की यथार्थता के साक्षी हैं जिसका मूल स्वरूप आध्यात्मिक है, जो इस सबका आधार है, "अमरता एवं मृत्यु जिसकी प्रतिच्छाया है" (यस्य छायामृतम् यस्य मृत्युः-ऋग्वेद १०, १२१)। आध्यात्मिक अनुभूति का मुख्य लक्षण उसकी अनिर्वचनीयता है। जब हम अनुभूत सत्य का वर्णन करना चाहते हैं तब हमें रूपों अथवा शब्दों का सहारा

लना पड़ता है पर सत्य को व्यक्त करने के लिए बड़-से-बड़े शब्द अथवा रूप भी अपर्याप्त हैं। बुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति की यथार्थता स्वीकार करते हैं पर वे उसे किसी स्वतंत्र सत्ता का ज्ञापक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यह मत कि आध्यात्मिक अनुभूति ईश्वर का साक्षात्कार कराती है, अनुमानमात्र है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं। बुद्ध प्रत्यक्ष को छोड़ना नहीं चाहते। वे इतना ही कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि इस व्यक्त वस्तु-जगत् में एक सूक्ष्म भाव जगत् भी व्याप्त है। श्रेष्ठ हिन्दू-दार्शनिक तथा धर्मशास्त्री शंकराचार्य का कथन है कि सभी रूपों में मिथ्या का अंश रहता है एवं सत्य रूपों से परे है। उपनिषद्, बुद्ध और शंकराचार्य तथा उनके अनुयायी मानते हैं कि अविभक्त, अद्वैत इस अनेकरूप, अनित्य जगत् से परे अथवा उसी में व्याप्त विशुद्ध तेजपूर्ण आत्मा एक निर्गुण सत्ता है जिसका न तो सम्यक् ज्ञान ही सम्भव है और न उसका वर्णन ही किया जा सकता है। हम न मानकर भी इस बात को मान लेते हैं कि ईश्वर की महत्ता अज्ञेय है, वह मन तथा वचन की पहुँच के बाहर है। "वह ज्ञात से भिन्न है तथा अज्ञात से भी श्रेष्ठ है" (केनोपनिषद् १, ३)। "वहाँ तक दृष्टि नहीं पहुँचती, मन तथा वाणी भी नहीं पहुँचती" (बृहदारण्यक उपनिषद् ३, ८, ८)। पर इस बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विनम्रता में एक खतरा है। ब्रह्म के विषय में मौन रहने से बुद्ध पर नास्तिक होने का आक्षेप किया गया। उस चरम सत्य को सर्वथा सम्बन्धहीन एवं निर्गुण बताकर हम उसे केवलमात्र सत्ता-शून्य बना देते हैं। शंकराचार्य का कहना है कि अनुभवमूलक गुणों के अभाव को सत्ता का अभाव समझना मूर्खों का काम है। निषेधात्मक वर्णन तो ब्रह्म की जिस अलौकिक महत्ता का अनुभव जीव ने किया है उसको केवल व्यक्त कर देने का प्रयास है--वह ब्रह्म जो पूर्णतः

भिन्न है जिसके विषय में निषेध वाक्यों को छोड़कर और कुछ कहा ही नहीं जा सकता।

हिन्दू-धर्म केवल निषेधात्मक व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हुआ। आध्यात्मिक अनुभूति के तीन मुख्य गुण होते हैं—सत्य, ज्ञान तथा निरपेक्षता। चूँकि हमारी अनुभूति का कुछ भाग इन गुणों से युक्त होता है, अतएव यह भी सम्भव है कि अनुभूतिमात्र का स्वरूप इसी प्रकार का हो। जिस चेतना को प्रत्यक्ष, निरपेक्ष अन्तर्ज्ञान होता है वह वही दिव्य चेतना है जो हमारा आदर्श है। उस ब्राह्मी स्थिति में वास्तविकता स्वयं अपने आप को देखती है, स्वयं अपने आप को जानती है एवं पूर्णतः स्वतंत्र रहती है। तब ऐसा कुछ शेष नहीं रह जाता जो उसका अपना ही स्वरूप न बन जाय अथवा जो उसको अज्ञात रह जाय और तब सभी प्रकार के द्वन्द्वों का अन्त हो जाता है। यही पूर्ण सत्ता, पूर्ण चेतना, पूर्ण स्वतंत्रता की स्थिति है, यही सत्, चित्, आनन्द है। विचार तथा उसके विभिन्न रूप, इच्छा तथा क्रिया, प्रेम तथा समत्व का वही आधार है। उसके ये मानवी अंश कष्ट, क्षोभ एवं द्वन्द्व पूर्ण होते हैं। इसीलिए जो सान्त तथा मानवी है वह अनन्त एवं पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि से अपर्याप्त है। परमात्मा यथार्थ है, सत्य नहीं; पूर्ण है, प्रशस्त नहीं। उसकी स्वतंत्रता ही उसका जीवन है, वही उसकी मूलभूत स्वाभाविकता है।

यद्यपि इस अध्यात्म-तत्त्व की पूर्णता सांसारिक पदार्थों से भिन्न है, फिर भी वह हममें पाई जानेवाली श्रेष्ठतम वृत्तियों से बहुत कुछ मिलती है। यदि ब्रह्म का स्वरूप मानव की आत्मा से बिल्कुल भिन्न होता तो उसका अस्पष्ट आभास भी पाना हमारे लिए सम्भव न होता। हम यह भी न कह सकते कि ब्रह्म सर्वथा भिन्न गुणवाला है।

मनुष्य की आत्मा में उसके अन्तस्तल में, उसकी बुद्धि के भी परे एक ऐसा तत्त्व है जो ब्रह्म से मिलता-जुलता है। मनुष्य के हृदय में ही ब्रह्मानुभूति का आधार मौजूद है। ईश्वर का प्रगट होना तथा मनुष्य का चिन्तन एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। ईश्वर एवं मनुष्य की आत्मा में साम्य-दर्शन ही अध्यात्म-ज्ञान की आधार-शिला है। वह केवल अनुमान का विषय नहीं है। आध्यात्मिक अनुभूति में आत्मा तथा परमात्मा का भेद नहीं रहता। हम परमात्मा के अंश हैं एवं हममें वही प्रतिबिम्बित हो रहा है। "तत्वमसि" (तुम वही हो) महावाक्य एक अनुभूत सत्य का वर्णनमात्र है। बाइबिल का यह वाक्य--"ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही रूप का बनाया; उसने उसे ईश्वर के ही रूप का बनाया।" (उत्पत्ति प्रकरण १, २७) हमें बताता है कि "मनुष्य की आत्मा में ही ईश्वर का दीपक है।" (प्रावर्ब २०, २७)। प्लैटो के मतानुसार मनुष्य में सूक्ष्मरूप से अमरत्व शक्ति रहती है, जिसका स्वामी बनने के लिए उसे अनित्य सांसारिक पदार्थों से विरक्ति का अभ्यास करना होगा। इसी गहन सत्य को ईसा इस प्रकार प्रगट किया करता था-- "मैं और मेरा पिता एक ही है।"

ईश्वर वह अनन्त तत्त्व है जो हमारे भीतर भी है और बाहर भी। यदि हमारे भीतर परमात्मा न होता तो हमें उसकी आवश्यकता का अनुभव ही न होता; यदि हमारे बाहर वह न होता तो उपासना की कोई जरूरत न रहती। जब हम परमात्मा को मनुष्य की आत्मा से श्रेष्ठ स्वरूप का बताते हैं तो हमारा धर्म भक्तिपूर्ण होता है। ईश्वर-सम्बन्धी हमारा सर्वोच्च ज्ञान भी अपूर्ण ही होता है। सदा कुछ-न-कुछ ऐसा शेष रह ही जाता है जो अज्ञात या अनुच्चारित है। धार्मिक चेतना इस बात पर जोर देती है कि उस श्रेष्ठ तत्त्व के साथ साहचर्य

का अनुभव करें जिसके साथ हमारे तादात्म्य की सम्भावना न हो। भक्ति कई प्रकार की होती है। एक भक्त अपने प्रभु के समीप चरम दैन्य की भावना लेकर उपस्थित होता है और दूसरा अपने उस प्रियतम के प्रेमालाप में मग्न रहता है जिसकी दया की आशा अधम-से-अधम पापी भी कर सकता है। उस सर्वोत्तम तत्त्व से ईश्वर की तुलना करना, जिसका ज्ञान हमको है, किसी अन्य वस्तु से तुलना करने की अपेक्षा कहीं अधिक सत्य के नज़दीक है। भक्त उस महान् सत्य को एक ऐसे साकार ईश्वर का रूप देना चाहता है जो संसार का मूल, पथ-दर्शक एवं अन्त है। ब्रह्म को निरपेक्ष तत्त्व समझने अथवा उसे शरीरधारी ईश्वर मानने में कुछ मौलिक भेद नहीं है केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। अन्तर इतना ही है कि एक हमें ईश्वर के वास्तविक स्वरूप का और दूसरा उसके उस स्वरूप का जैसा वह हमारी इन्द्रियों को प्रतीत होता है। ईश्वर का व्यक्तित्त्व तो एक चिह्नमात्र है और यदि हम उसकी लाक्षणिकता को भूल गये तो सत्य से बहुत दूर जा पड़ेंगे।

हिन्दू-धर्म भारत के अध्यात्म-ज्ञान का निदर्शक है। ब्रह्म की एकता एवं सम्पूर्णता का ज्ञान ही इसका आधार है। अपने इस विश्वास के कारण कि मनुष्य-जीवन सर्वत्र एवं सदैव भगवान् का ही अंश होता है, उसने धार्मिक उदारता का बहुत अभ्यास किया है। वह मानता है कि अनुभव की व्याख्यायें अनेक हो सकती हैं। यदि हमम कुछ लोग ग्रीष्म की सन्ध्या के समय अस्तोन्मुख सूर्य-सुषमा का निरीक्षण करें तो सबकी भावनायें एवं विचार एक नहीं होंगे और उनका वर्णन भी निश्चय ही भिन्न-भिन्न होगा। पर इस व्याख्या-विविधता के कारण हमें शंकालु अथवा नास्तिक हो जाने की आवश्यकता नहीं।

# ४

# इस्लाम और भारतीय विचार-धारा*

## (१)

आज के युग में हम अनेक दिशाओं में अपने पूर्वजों की अपेक्षा एक उच्चतर ज्ञान और अधिक व्यापक दर्शन की उत्कट खोज के चिह्न पाते हैं जैसा कि शायद ही कभी हुआ हो। अब धार्मिक विचारों के परम्परागत बन्धन ढीले पड़ रहे हैं और लोग विचार-स्वतंत्रता तथा अपने जीवन को वर्तमान समय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप नये सिरे से परिवर्तित करने के अधिकार का कार्य करते हैं। आधुनिकता से प्रभावित मस्तिष्क को प्राचीन ज्ञान के निष्कर्ष और प्राचीन विनम्र श्रद्धाओं की अपेक्षा नूतन विचार अधिक आकर्षक प्रतीत

* इस्लाम पर स्फुट विचार—लेखक सर अहमद हुसेन के. सी. आई. ई., सी. एस. आई.; सम्पादक, खान बहादुर हाजी ख़्वाजा मुहम्मद हुसेन, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, हैदराबाद (दक्षिण)।

होते हैं। आज के युग की अस्थिरता पुराने धर्मों को इस बात की चुनौती है कि वे अपनी उपादेयता और उपयुक्तता को एक बार फिर प्रमाणित करें। सभी उन्नतिशील धर्मों के आध्यात्मिक नेता अपने परम्परागत विचारों पर मनन करने में संलग्न हैं ताकि वे वर्द्धमान ज्ञान और अनुभव से प्रेरित आक्षेपों से उनकी रक्षा कर सकें। जिस पुस्तक की मैं आलोचना कर रहा हूँ उसमें सर अहमद हुसेन महोदय ने, जो कि एक सम्भ्रान्त, उदार तथा धर्मनिष्ठ भारतीय मुसलमान हैं, उन दिशाओं की ओर संकेत किया है जिनमें इस्लाम की व्याख्या करना आधुनिक विज्ञान और दर्शन से सामंजस्य स्थापित कराने के लिए आवश्यक है। इस पुस्तक से हमें इस बात का आभास मिलता है कि इस्लाम के भावी पुनर्निर्माण में भारतवर्ष की क्या देन होगी।

किसी धर्म का किसी देश विशेष में क्या रूप होगा, यह उसकी सांस्कृतिक परम्परा और राष्ट्रीय विशिष्टता पर निर्भर करता है। अरब में इस्लाम केवल एक सरल किन्तु उच्च ईश्वरवादी धर्म था, जिसमें आगे आनेवाली शताब्दियों में उत्पन्न हुई बारीकियों के लिए कोई स्थान नहीं था। जब इसने फ़ारस के लोगों पर अधिकार जमाया तब सेमिटिक भावनाओं ने रहस्यवादी भावनाओं के सामने मस्तक टेका। आदिम अरब-परम्परा की अनुपम सुन्दरता का स्थान एक गहन दर्शन तथा आकर्षक धर्म-कथाओं ने ले लिया, जिनमें मुहम्मद एक रहस्यपूर्ण व्यक्ति बन गये जो न पूर्णतः इस लोक के थे और न स्वर्ग के। भारतीय जनता में लगभग ७ करोड़ व्यक्ति इस्लाम-धर्म को मानते हैं और उनमें से अधिकांश उसी नस्ल के हैं जिसके हिन्दू। यह स्वाभाविक है कि भारतीय इस्लाम की अपनी विशेषतायें हैं। अभी कल तक

भारतीय मुसलमान इस्लाम की व्याख्या करने में अपने आध्यात्मिक वंशानुगत ज्ञान का उपयोग करना अपने लिए गौरव की वस्तु समझता था। परन्तु इधर, आश्चर्य है कि हमारे कुछ शिक्षित मुसलमान भाइयों के हृदय में एक विचित्र भ्रम घर करता जा रहा है कि चूँकि उन्होंने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया है, वे स्पेन के मूरों और बग़दाद के खलीफ़ाओं के वंशज हो गये हैं। वे सांस्कृतिक और समाजिक दृष्टि से अपने को अपने हिन्दू-पड़ोसियों से भिन्न मानते हैं। अपने धार्मिक विश्वास अथवा बौद्धिक विचारों को बदलकर हम अपनी सम्पूर्ण मानसिक दशा को तो नहीं बदल देते। धर्म-परिवर्तन का अर्थ यह तो नहीं होता कि हम अपने देश के इतिहास अथवा उसके आदर्शों से विलग हो जायँ। आज के युग की यह अभिनन्दनीय स्थिति है कि मुसलमानों के भारतीय नेता भारतवर्ष की आध्यात्मिक परम्परा की एकता का अनुभव करने लगे हैं और उन कृत्रिम विषमताओं तथा विभिन्नताओं का विरोध कर रहे हैं जिन्हें झूठे पैग़म्बरों और कुटिल राजनीतिज्ञों ने उकसाया है। हमारा धर्म चाहे जो हो परन्तु हमारी रगों में एक ही खून प्रवाहित हो रहा है और हमारी आध्यात्मिक परम्परा एक ही है। 'ए. ई.' जो बात आयरलैंड के विषय में कहता है वह भारतवर्ष के विषय में और भी अधिक सत्य है। हम उन कुछ अवशिष्ट जातियों में से एक हैं, जिनकी परम्परा का स्रोत देवताओं और दैवी घटनाओं से सम्बद्ध है।* भारतवर्ष का इतिहास अतीत की धुँधली स्मृतियों तक जाता है और इसी कारण हमारी अनेक पद्धतियाँ हमें प्रभावित करती हैं और कभी-कभी हमारी इच्छा के प्रतिकूल अन्तरात्मा में एक अद्भुत

* 'भाष्यकार'

स्वर झंकृत करतीं तथा हमें विस्मृत घटनाओं की याद दिलाती और हमारी विस्मृत दृष्टि को सक्रिय बनाती हैं। भारतात्मा एक आध्यात्मिक तत्त्व है जो हम सबको भारतीय बनाता है। एक व्यापक अध्यात्म की आधार-शिला के सहारे इस्लाम की सत्यतम, उच्चतम और उत्कृष्टतम अर्थ में व्याख्या करने का, ताकि वह उस धर्म से पृथक् हो जाय जिसे एक अशिक्षित कट्टरपंथी, कुटिल राजनीतिज्ञ अथवा अनुदार मुल्ला स्वीकार करता है, भारतीय मुसलमानों का ही अधिकार है। यदि भारतीय मुसलमान अपनी पैतृक परम्परा और नव-स्वीकृत धर्म में सामञ्जस्य पैदा कर ले तो वह इस्लाम के उन पहलुओं को बल दे सकेगा जो अभी तक उदासीनता के शिकार रहे हैं परन्तु जिन्होंने सचमुच सभ्यता तथा संस्कृति के विकास और एक मृतप्राय संस्था को नव-जीवन प्रदान करने में सहयोग दिया है। साथ ही वह उन निस्सार छोटी-छोटी बातों का तिरस्कार कर सकेगा जो ऐतिहासिक घटनाओं के कारण आवश्यकता से अधिक महत्त्व पा गई हैं। वह उस रूढ़ि-प्राप्त धर्म के कुप्रभाव को तोड़ सकेगा जो जनता के जीवन को ओत-प्रोत किये है और इस्लाम-जगत् के समक्ष मुहम्मद की शिक्षाओं का ऐसा भाष्य प्रस्तुत कर सकेगा जो, मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ, उनकी शिक्षाओं के अधिक सन्निकट होगा, उन रूढ़िवादी परिवर्द्धनों के नहीं जिनकी सृष्टि उनके बाद के अनुयायियों ने की है। श्री अमीर अली ने अपनी पुस्तक 'इस्लाम की अन्तरात्मा' में (जिसका इस आलोचना के लिखने में मैंने निस्संकोच उपयोग किया है) और सर अहमद हुसेन ने अपनी पुस्तक 'इस्लाम पर स्फुट विचार' में उन सुन्दर विचार-कुसुमों का आभास दिया है जो भारतीय अतीत की भूमि में विकसित होंगे।

(२)

मुहम्मद के जीवन के जिस पहलू का भारतीयों पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, वह है उनकी गहन धार्मिक भावना। सृष्टि के रहस्योद्घाटन के प्रयत्न में मुहम्मद प्रार्थना और मनन के लिए हीरा पर्वत की एक कन्दरा में विचार-निमग्न और समाधिस्थ रात-रात बैठे रहते थे। उनकी दृष्टि में धर्म का अर्थ था सत्य को पहचानना एवं जीवन में उसे मूर्तरूप देना। धर्म और जीवन को पर्याय बताने का अर्थ यह होता है कि हम धार्मिक विश्वासों और रूढ़ियों के प्रति भी वैसी धारणा बना लेते हैं। धार्मिक विश्वास उसी सीमा तक ठीक होते हैं जहाँ तक उनमें और जीवन की घटनाओं में साम्य होता है। अनुभव धार्मिक विश्वासों की कसौटी है और यह प्रत्येक युग का कर्तव्य है कि वह अनुभव के अनुरूप धार्मिक विश्वासों की नूतन व्याख्या करता जाय। सर अहमद हुसेन ने इस्लाम की जो नई व्याख्या प्रस्तुत की है वह न तो पूर्णतः प्राचीन विश्वास के अनुकूल है और न पूर्णतः उसकी विरोधी, वरन् वह इन दोनों के बीच की वस्तु है (पृष्ठ ८-९)। लेखक क़ुरान के शब्दों की उस शाब्दिक व्याख्या को ईश्वर-वाक्य मानने के लिए तैयार नहीं है जो मुल्लाओं तथा मौलवियों ने प्रस्तुत की है वरन् उसने उनका वह अर्थ लगाने में, जो उसको युक्तसंगत मालूम होता है अपने को पूर्ण अधिकारी माना है। ऐसा करने में उन्होंने मुहम्मद की शिक्षा के प्राण का अनुगमन किया है क्योंकि उन्होंने कहीं भी ऐसे बन्धन नहीं लगाये हैं जिनके कारण भावी मनुष्य-जाति की आत्मा पर प्रतिबन्ध लगे। ईश्वर का ज्ञान मनुष्यात्मा के द्वारा ही सम्भव है और हम यह विश्वास करने के लिए विवश नहीं हैं कि जिनको ऐसा ज्ञान हुआ था, उनमें से

बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् व्यक्ति भी अपने युग की भूलों और भ्रमों से पूर्णतः मुक्त था। क़ुरान में ऐसी अनेक स्थानीय और अल्पकालीन महत्त्व की बातें हैं जो धर्म के शुद्ध अर्थ में बिलकुल अनावश्यक हैं। सभी धर्मों के कट्टर और अनुदार अनुयायी भूल जाते हैं कि धर्म की शुष्क अस्थियाँ सारहीन हैं, महत्त्व तो केवल उस भावना का है जो उन अस्थियों में प्राण-प्रतिष्ठा करती है (पृष्ठ १२)। सर अहमद हुसेन ने इस्लाम और उस धर्म का अन्तर प्रगट करने का उद्योग किया है जिसे हमारे कुछ मौलवी कट्टरता के साथ प्रतिपादित करते हैं। "मैं इस्लाम को मुहम्मदी धर्म से पृथक् मानता हूँ। मुहम्मदी धर्म वास्तविक और शुद्ध इस्लाम नहीं है। वह इस्लाम की आत्मा को भूल गया है और केवल उसके नियमों की शब्दावली को याद किये है" (पृष्ठ १२ टिप्पणी क)।

जब हम धर्म के अनुभव-गम्य पहलू पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि सभी मतों के सचमुच धार्मिक व्यक्ति एक-दूसरे के उससे कहीं अधिक निकट हैं जितना कि वे समझते हैं। हिन्दू-धर्म की उदारता के अनुरूप हमारे लेखक ने स्वीकार किया है कि सभी धर्मों का आधार-सत्य एक है और उसने जलालुद्दीन रूमी के इस वाक्य को अपने मत की पुष्टि में उद्धृत किया है—"सभी धर्मों में मौलिक एकता है।"* भारतीय मुसलमान के लिए पृथक्करण की भावना को हृदयंगम करना असम्भव है यद्यपि सेमिटिक धर्मों की यह एक प्रमुख विशिष्टता है। भारतवर्ष अपने इतिहास के आदि काल से धार्मिक स्वतंत्रता और धार्मिक सद्भावना का समर्थक रहा है। इसी भावना के अनुरूप अकबर

* महनईर, तृतीय, पृष्ठ १२

महान् ने सभी भारतीयों को एक ऐसे धर्म के सूत्र में बाँधकर, जिसकी क्रियाओं में मुसलमान और हिन्दू एक-दूसरे से सहयोग कर सकें, एक सुसंगठित राष्ट्र में परिणत करने का उद्योग किया था यद्यपि उस समय की स्थिति की प्रतिकूलता के कारण वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। उपनिषदों की आदर्शवादिता से प्रभावित होकर, जिसमें मूर्ति-पूजा और अन्ध-विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है और जो इस कारण संसार के सभी लोगों को स्वीकार्य हो सकती है, अकबर के प्रपौत्र दारा शिकोह ने 'मजमुए बहरैन' (अर्थात् इस्लाम और हिन्दू-धर्म के सागरों का सम्मिलन) नामक पुस्तक की रचना की। उसने स्वीकार किया कि दोनों ही धर्म उच्च जीवन का मार्ग दिखाने की पूरी क्षमता रखते हैं। सर अहमद हुसेन का विश्वास है कि हम विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हुए भी समान मुक्ति-पद की प्राप्ति कर सकते हैं। "कृपया यह न भूलिए मनुष्य अनेक हैं और मस्तिष्क भी अनेक हैं। अत: जितने विचारशील मस्तिष्क हैं उतने ही विभिन्न धर्म, ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न मत, उसके गुणों की विभिन्न कल्पनाएँ और सृष्टि तथा प्रलय की उतनी ही धारणाएँ सम्भव हैं" (पृष्ठ २४)। जो लोग मुसलमानों के आचारों से परिचित हैं, उनके लिए शायद यह विश्वास करना कठिन होगा कि उपर्युक्त मत क़ुरान की शिक्षाओं के अनुकूल है। किन्तु यह ठोस सत्य है। यह भ्रांतिमूलक विश्वास कि इस्लाम के अतिरिक्त और कोई सच्चा धर्म नहीं है, कट्टरता, असहनशीलता और धर्मान्धता का सृजन करता है और क़ुरान की शिक्षाओं के विरुद्ध है। "क़ुरान की दूसरी सुरा का पहला खण्ड हमें स्पष्ट आदेश देता है कि न केवल उसमें विश्वास करो जो मुहम्मद को व्यक्त किया गया था वरन उसमें भी विश्वास करो जो मुहम्मद के पूर्ववर्ती सन्तों के द्वारा प्रगट किया गया है। यह स्पष्टत: इस

बात का प्रमाण है कि आज भी कई सच्चे धर्म हैं और भविष्य में भी अनेक सच्चे धर्म रहेंगे जिनमें इस्लाम केवल एक होगा और है।" (पृष्ठ ४०-४१)*।

* जलालुद्दीन रूमी की मसनवी पंक्तियों का निम्नांकित सारांश व्यक्त करता है कि हमें निम्न कोटि की उपासना-विधियों से क्यों सहानुभूति रखनी चाहिए और उनकी सदाशयता में विश्वास करना चाहिए—

"मूसा ने एक दिन ग्रीष्म ऋतु में एक विक्षिप्त गड़रिये को ईश्वर की प्रतिष्ठा पर आक्षेप करते हुए प्राथना करते सुना और वह घबरा उठा क्योंकि गड़रिया कह रहा था, 'परमात्मा, कैसा अच्छा होता कि मैं जान पाता कि तू कहाँ है ताकि मैं तेरी सेवा कर सकता, तेरे बालों में कंघी कर देता, तेरे जूतों की मिट्टी झाड़ देता, तेरे कमरे में झाड़ू लगा देता और तेरे लिए नित्य प्रातःकाल दूध और शहद ले आया करता।' मूसा ने कहा, 'अरे अधर्मी! वाग्धारा को रोक। तू किस से बातें कर रहा है? क्या तू सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अल्ला के प्रति यह कह रहा है? क्या तू समझता है कि उसे तेरी मूर्खतापूर्ण सेवा की आवश्यकता है? क्या तू सभी सीमाओं का उल्लंघन कर जायगा? कुकर्मी! चेत जा, ताकि बिजली न फटे और हम सब तेरे कारण विनाश को प्राप्त न हों। वह तो बिना आँखों के देखता है, बिना कानों के सुनता है, न उसके कोई बेटा है, न स्त्री, न वह किसी स्थान में बन्द है और न वह समय के अन्तर्गत है। उस पर यदि कोई सीमाएँ कुछ प्रभाव रखती हैं तो वे हैं प्रकाश और प्रेम।' लज्जित होकर बेचारे गड़रिये ने अपना कपड़ा फाड़ दिया। उसका सभी धर्मावेश नष्ट हो गया और वह हिम्मत हारकर चल

मुहम्मद की धार्मिक प्रतिभा इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने कोई सैद्धान्तिक परीक्षण नहीं रखा। उनके वाक्यों के संग्रह में प्रायः सर्व-प्रथम वाक्य है--"जो व्यवित कहता है कि अल्लाह के अतिरिक्त कोई दूसरा देवता नहीं है वह निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करेगा।" मुहम्मद ने ईसाई और यहूदी धर्मों के पृथक्त्व की नीति का विरोध किया है और कहा है कि वे सभी लोग मोक्ष के अधिकारी हैं जो ईश्वर में विश्वास करते हैं और उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। "यहूदी और ईसाई कहते हैं कि उनके सिवा कोई भी स्वर्ग में प्रवेश न पा सकेगा··· यदि यह सच है तो इसका प्रमाण दीजिए। नहीं, वह जो ईश्वर की ओर आकृष्ट होता है और उचित कार्य करता है, ईश्वर की कृपा प्राप्त करेगा।" (सुरा पंचम १०५-१०६)। "सचमुच मुसलमान और वे जो

दिया। तब ईश्वर ने मूसा से कहा, 'तूने मेरी प्रतिष्ठा की रक्षा करने के बहाने मेरे एक सेवक को दुःखी करके क्यों भगा दिया है? ऐ जल्द-बाज़, मैंने तुझे लोगों को अलग करनेवाली नहीं वरन् मिलानेवाली शिक्षा देने के लिए भेजा था। मुझे जो सबसे अधिक नापसंद है, वह है बिलगाव और परित्याग। सबसे बुरी बात है किसी को बलपूर्वक किसी मार्ग पर चलवाना। मैंने व्यक्तिगत लाभ के लिए सृष्टि नहीं की थी वरन् मेरा उद्देश्य यह था कि जीव मुझसे मिलने की महत्ता को समझ सके। यदि कोई बचपन की बात करे तो इससे क्या होता है! मैं तो केवल हृदय की परख करता हूँ कि उसमें मेरे लिए विशुद्ध प्रेम है कि नहीं।'"

क्लाड फ़ील्ड द्वारा विरचित 'इस्लाम के संतों और सूफ़ियों' से उद्धृत, पृष्ठ १५४

यहूदी, ईसाई अथवा सबाई हैं अथवा जो भी ईश्वर में अन्तिम दिन में विश्वास करता है और वह कार्य करता है जो ठीक है·········उनको ईश्वर की कृपा प्राप्त होगी, उनको न किसी वस्तु का भय होगा और न उनको कोई दुःख होगा।" (सुरा पंचम ६९)। विमल अन्तरदृष्टि के कारण मुहम्मद ने आचार को विचार की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। प्रत्येक धर्म जो नेकी के बढ़ाने में सहायक होता है, उसके सिद्धान्त चाहे जो हों, स्वीकार करने योग्य है क्योंकि यदि हम ईश्वरेच्छा का पालन करेंगे तो हमें धर्म के सिद्धान्त भी मालूम हो जायँगे। "हमने प्रत्येक को एक नियम और एक मार्ग बताया है और यदि ईश्वर की इच्छा होती तो वह सबको एक धर्म का अनुयायी बना सकता था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया ताकि वह तुम सबकी उस मार्ग में परीक्षा कर सके जो उसने अलग-अलग तुम सबको बताया है। इसलिए अच्छे कार्यों में निष्ठा बढ़ाओ। तुम्हें ईश्वर के पास लौटकर जाना है और वह तुम्हें उसका ज्ञान प्रदान करेगा जिसके विषय में तुममें मतभेद है।" (सुरा पंचम, ४८)।* क़ुरान के अनुसार मुसलमान वे हैं, "जो नैतिक आचरण में विश्वास रखते हैं और अपने जीवन में नैतिक आचरण का पालन करते हैं।" वे सब लोग मुसलमान हैं, "जो ईश्वर में आस्था रखते हैं और अच्छे काम करते है।"† इसी दृष्टिकोण से अभी हिज हाइनेस दि आग़ा खाँ ने कहा था कि महात्मा गांधी मुसलमान हैं। ईसा ने भी यह नहीं कहा था कि "तुम उनकी पहचान उनके

* इकतीसवीं ४६, तेंतीसवीं २३, २४, उनतालीसवीं ४१, चालीसवीं १३ भी देखिए।

† प्रार्थना-संगीत।

विश्वासों से कर सकोगे" बल्कि यह कि "तुम उनके कार्यों से उनकी पहचान कर सकोगे" और पीटर ने भी ठीक ही कहा है--"मुझे यह सत्य प्रतीत होता है कि ईश्वर व्यक्ति विशेष की चाह नहीं करता, वरन् प्रत्येक राष्ट्र और जाति में जो उससे डरता है और आचरण शुद्ध रखता है उसे वह स्वीकार करता है।"*

सर अहमद हुसेन ठीक ही कहते हैं कि "इस्लाम और ईसाई धर्म अथवा किसी दूसरे सत्य धर्म में कोई वैषम्य नहीं है" क्योंकि सभी धर्मों का सार यही है कि हम सब ईश्वर के पुत्र हैं और आपस में भाई-भाई हैं। केवल रूढ़ि-प्रधान सम्प्रदाय ही एक-दूसरे के विरोधी हैं। ईसा का धर्म मुहम्मद के धर्म से समता रखता है, परन्तु जब सेंट पॉल कहते हैं कि ईसा को मसीह और मनुष्यों के बीच में ईश्वरवत् मानो—जो एक ऐसी बात है जिसका समर्थन करते सभी विचारशील ईसाई हिचकते हैं—तो ईसाई-धर्म इस्लाम का विरोधी हो जाता है और मुसलमान की स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह ईसा के सम्बन्ध में कही जानेवाली बात को मुहम्मद के विषय में कहे। इस्लाम के पक्ष में यह बात कहनी ही पड़ेगी कि उसमें मुहम्मद के विषय में जो कहा गया है वह अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। वह उसे ईश्वर का दूत मानता है जिसने मनुष्यमात्र के एक बड़े भाग के धर्म का संशोधन किया। इस सबके होते हुए भी वे केवल मनुष्य के समान पाप कर सकते थे और अल्लाह की दया के उतने ही भूखे थे। "यह न इस्लाम है और न ईमान कि मुहम्मद ईश्वर थे अथवा ईश्वर के समान थे। यद्यपि कुछ मौलवियों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और कहा है कि अहमद के स्वरूप

* कार्य दशम ३४-३५

में वही अहद (अर्थात् एक) है। हमारे पैग़म्बर ने खुद कभी अपने को मनुष्य से बढ़ाकर नहीं बताया (पृष्ठ ४८)।" मुहम्मद ने कहा है—"ईश्वर ने मुझे चमत्कार दिखाने के लिए नहीं भेजा है। उसने मुझे तुम्हें धर्म की शिक्षा देने के लिए भेजा है। मैंने यह कभी नहीं कहा कि अल्लाह की देनें मेरे हाथ में हैं, अथवा मैं गुप्त बातों को जानता हूँ या मैं कोई फ़रिश्ता हूँ। मैं तो एक ऐसा व्यक्ति हूँ जो बिना अल्लाह की मर्ज़ी के न अपनी मदद कर सकता है और न अपने ऊपर भरोसा कर सकता है।" (सुरा सत्रहवीं, ६५-६८, बहत्तरवीं २१-२४)। तो भी उनके प्रारम्भिक अनुयायियों का उत्साह और भक्ति ऐसी थी कि मुहम्मद के सम्बन्ध में अनेक धार्मिक तथा चमत्कारक कहानियाँ प्रचलित हो गईं। कहा जाता है कि जिस दिन पैग़म्बर का जन्म हुआ उस रात को क्रॉस रोज का महल भूचाल के कारण गिर गया, पारसियों की पवित्र आग बुझ गई, सावा झील सूख गई, दजला नदी में बाढ़ आ गई और संसार भर की मूर्तियाँ मुँह के बल ज़मीन पर गिर पड़ीं। सौभाग्यवश इन कहानियों ने कभी पवित्र धर्म-कथाओं का रूप ग्रहण नहीं किया। उनके प्रारम्भिक अरब-अनुयायी इतने जागरूक और विचारशील थे कि उन्होंने मुहम्मद की रातोरात यरूशलम की यात्रा और ईश्वर का मक्का के निकट उन्हें अपना पैग़म्बर कहकर सम्बोधित करना आदि कहानियों को भी इस्लाम में वह महत्त्व प्राप्त न करने दिया जो ईसाई-धर्म में ईसा के पुनरुज्जीवित होन और आकाश-मार्ग से उड़ते चले जाने को प्राप्त है। उनको मसीहा का श्रद्धास्पद स्थान भी सदा नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में वहाबी-आन्दोलन को देखिए जिसका सिद्धान्त है कि ईश्वर की उपासना के लिए केवल उसके सम्मुख सिजदा करना पर्याप्त है। उसके निकट किसी सहायक को बुलाने की भावना मूर्ति-पूजा के

समान है और सबसे अधिक पुण्य का काम यह होगा कि मुहम्मद की क़ब्र और इमामों की दरगाहों को पूर्णतः नष्ट कर दिया जाय।

मुहम्मद-जैसे पंडित के लिए बलपूर्वक मत-परिवर्तन कराने की शिक्षा देना असम्भव है। हम मनुष्यों को अपने विचार बदलने के लिए विवश नहीं कर सकते। "धर्म के मामले में कोई ज़बरदस्ती न करो" (सुरा द्वितीय, २५७)। "यह जानते हुए कि ईमान ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है क्या तू किसी को ईमान लाने के लिए विवश करेगा ?"* यह सन्देहपूर्ण है कि मुहम्मद का विचार अरब के अतिरिक्त अन्य लोगों का धर्म-परिवर्तन कराने का भी था। धार्मिक अत्याचार और बलपूर्वक मुसलमान बनाना इस्लाम की सच्ची शिक्षाओं के प्रतिकूल है यद्यपि इनके कारण इस्लाम के सुन्दर नाम पर बहुत बड़ा धब्बा लगाया गया है। इस्लाम पर अत्याचार करनेवाले और बाद म उसके खलीफ़ा बननेवाले उमर ने पहले पहल उनके विरुद्ध तलवार उठाई जिन्होंने बिना समझे-बूझे इस्लाम पर ईमान लाने से इनकार किया। मुहम्मद के अनुयायियों में से कुछ की भोंडी कृतियों से जन-साधारण में यह विश्वास फैल गया कि जो अपने धर्म की सेवा में लड़ते हुए प्राण देते हैं वे उच्चतर शहीद हैं। भारतीय मुसलमान अपने हिन्दू भाई की भाँति धार्मिक विचारों की स्वतंत्रता में विश्वास करता है। अभी हाल में ही सर अब्दुर्रहीम ने कहा था—"यह बिलकुल ही ग़लत ख्याल है कि इस्लाम के नियम बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन की आज्ञा देते हैं।"† खिलाफ़त-आन्दोलन का राजनीतिक महत्त्व चाहे जो हो किन्तु

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा', लेखक— अमीर अली, २१२

† कलकत्ता रिव्यू, मई १९२३

इसने धार्मिक स्वतंत्रता के प्रश्न को अवश्य सहायता दी है। कुत-अल उमरा के समर्थक सर चार्ल्स टाउनशेण्ड ने थोड़े ही दिन पहिले लिखा था—"भारतवर्ष की हिन्दू-जनता ने सम्पूर्ण विश्व के लोगों की धार्मिक स्वतंत्रता के प्रश्न को अपनी समस्या माना है।"* भारतीय आत्मा इस्लाम को अपनी कतिपय कट्टरताओं को ढीला करन की ओर प्रेरित कर रही है। इस्लाम और हिन्दू-धर्म के पारस्परिक सम्पर्क से, जो आजकल एक-दूसरे पर दृष्टि किये हुए हैं, भारतीय भूमि पर प्रचारित धर्मों में साम्य स्थापित करने की भावना को बल मिलेगा।

(३)

अब हम इस्लाम के सिद्धान्तों पर विचार करके देखें कि क्या ईश्वर की कल्पना हिन्दू-दृष्टिकोण से मौलिकरूप में भिन्न है। यद्यपि सभी धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं तो भी जिस रूप में ईश्वर की पूजा की जाती है, उसी के आधार पर धर्मों में विभिन्नता आ जाती है। हिन्दुओं के अनुसार ईश्वर की रहस्यमयी सत्ता का आभास किन्हीं शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता। ईश्वर की कोई बौद्धिक परिभाषा नहीं दी जा सकती; हाँ, उसका आत्मा के सहारे अनुभव किया जा सकता है। यदि परिभाषा देना ही पड़े तो हम उन साधनों का उपयोग किये बिना नहीं रह सकते जो हमें उपलब्ध हैं। हम अपनी चेतना-शक्ति से परिचित हैं, इसलिए हम ईश्वर की प्रवृत्ति की व्याख्या इसी की समानता के सहारे करते हैं। ईश्वर दैवी सत्ता है

* एशिया, दिसम्बर, १९२२

जिसमें सत्य, स्नेह और पूर्णता अथवा ज्ञान, सौन्दर्य और शक्ति के तीनों गुण वर्तमान हैं। अथवा यों कहिये कि उसमें चेतन-जगत् की ज्ञान, भावना तथा चेष्टा से सम्बन्धित निस्सीमता, सौन्दर्य और राजसत्ता नामक गुण विद्यमान हैं। हिन्दुओं की त्रिमूर्ति की कल्पना ईश्वर की प्रवृत्ति के इन्हीं तीनों पक्षों को व्यक्त करती है। ब्रह्मा के स्वरूप में ईश्वर सृजन करता है विष्णु के रूप में पालता है और शिव के रूप में न्याय करता है। सृष्टि करने में, ब्रह्मा ईश्वर के आदर्श स्वरूपों का सहारा लेता है। उसकी असीम बुद्धि का परिचय उस असीम संसार से मिलता है जो है, था और भविष्य में भी रहेगा। असीम शक्ति और विश्व-शासक के हृदय में स्नेह का प्रतीक विष्णु है। वह हमें बुराइयों का सामना करने में सहायता देता है और ऊपर उठने में सहयोग करता है। शिव न्यायाधीश के समान हैं जिनकी शक्ति असीम है "जो कुछ भी कर सकते हैं अथवा बिना किये छोड़ दे सकते हैं अथवा जिस प्रकार उसे करना चाहिए उससे भिन्न ढंग से कर सकते हैं।"* हिन्दू, ईश्वर को चाहे जिस नाम से पुकारे परन्तु वह उसमें ज्ञान, प्रेम और जीवन की सामूहिक कल्पना अवश्य करता है। सर अहमद हुसेन का विश्वास है कि सभी धर्म एक ही सत्ता में विश्वास करते हैं—"एक और केवल ईश्वर जो असीम, सर्वोपरि, अनादि, अनन्त और पूर्णतः स्वच्छन्द है। उसी असीम और सर्वोपरि सत्ता को विभिन्न भाषाओं में यज़्द, ईश्वर, जेहोवा, गॉड, अल्लाह आदि कहा गया है।"

ईश्वर की सर्वोपरिता और सीमित-मस्तिष्क-अग्राह्यता क़ुरान के कई स्थलों में वर्णित है। पहली ही पदावली में कहा गया है—"कहो

* कर्तुम्कर्तं अन्यथाकर्तुम् समर्थः

वही केवल अल्लाह है, अनादि ईश्वर। वह न तो किसी को जन्म देता है और न किसी ने उसको जन्म दिया है। उसके समान कोई दूसरा नहीं है।" संसार में सभी कुछ परिवर्तनशील और नाशवान् हैं; केवल ईश्वर इससे मुक्त है। ईश्वर ही एक ऐसी चट्टान है जिस पर हम समय-चक्र की घटनाओं के तूफ़ान में खड़े रह सकते हैं; वही एक ऐसी आशा है जिसके सहारे हम संसार के अन्धकार, इसके पापों और अन्यायों का सामना कर सकते हैं, परन्तु इस भौतिक संसार में ईश्वर की सत्ता की पूरी व्याख्या करने का एक भी साधन उपलब्ध नहीं है। "मनुष्य की आँखें उसे देख नहीं सकतीं परन्तु वह मनुष्यों की आँखों का निरीक्षण कर सकता है क्योंकि वह रहस्यों का ज्ञाता, ज्ञानी है" (सुरा छठवीं, १०४)। हज़रत अली ने ईश्वर की किसी जीव विशेष से समता करने की चेष्टा की भर्त्सना की है। "ईश्वर किसी ऐसे पदार्थ के समान नहीं है जिसकी मनुष्य कल्पना कर सके, न उसमें किसी ऐसे गुण का प्रतिपादन किया जा सकता है जो तनिक भी उस गुण से मिलती हो जिसका ज्ञान मनुष्य ने सांसारिक अनुभव द्वारा प्राप्त किया हो। धर्म की पूर्णता ईश्वर को जानने में हैं, ज्ञान की पूर्णता उसकी सत्यता स्वीकार करने में है, सत्यता की पूर्णता निश्छलता के साथ उसकी एकता में विश्वास करने में है और निश्छलता की पूर्णता ईश्वर में सब गुणों के इनकार करने में है। ईश्वर का स्थान, काल अथवा परिणाम से कोई सम्बन्ध नहीं है।"* मनुष्य केवल इस नकारात्मक आदर्श से सन्तुष्ट नहीं हो सकता इसलिए वह ईश्वर की मनुष्यरूप में कल्पना करने पर आग्रह करता है। क़ुरान की पहली पदावली में कहा गया है—"उस

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ ४१६ में उद्धृत

ईश्वर की स्तुति करनी चाहिए जो समस्त संसारों का पालक, दयालु, उदार और अन्तिम निर्णय के समय का न्यायाधीश है।" वैष्णव-धर्म और ईसाई-धर्म ईश्वर की प्रेममयी कल्पना पर सबसे अधिक बल देते हैं, परन्तु यहूदी और इस्लाम धर्मों में ईश्वर की शक्ति को बहुत महत्त्व दिया गया है। ईश्वर सर्वोच्च शक्ति और सर्वकालीन न्यायाधीश है। मुहम्मद अंतिम निर्णय के दिन का बहुधा जिक्र करते हैं जब कि आकाश और पृथ्वी मोड़ दी जायगी, ईश्वर के अतिरिक्त कोई पास नहीं होगा और प्रत्येक व्यक्ति के पाप-पुण्यों का लेखा-जोखा प्रधान न्यायाधीश ईश्वर के सम्मुख होगा। ईश्वर की दूसरी विशेषताओं की अवहेलना नहीं की गई है। ईश्वर केवल न्यायी ही नहीं है वरन् वह "पापों को क्षमा करनेवाला और प्रायश्चित को स्वीकार करनेवाला भी है" (सुरा चालीसवीं, १-२), वह भूले हुए लोगों का पथ-प्रदर्शक और सभी सन्तापों से मुक्ति देनेवाला है जिसका स्नेह "पक्षी के अपने बच्चे के प्रति स्नेह से भी अधिक कोमल है"।* ईश्वर का स्नेह प्रगट करनेवाले वाक्य अनेक स्थलों पर आते हैं--"हे ईश्वर मुझ पर दया कर क्योंकि तू दया करनेवालों में सबसे श्रेष्ठ है" (सुरा बाईसवीं, ११८)। "क्या वह अधिक सम्मान के योग्य नहीं है जो दुखियों की पुकार सुनता है, उनके दुःखों को दूर करता है और तुम्हें तुम्हारे पूर्वजों का उत्तराधिकारी बनाता है?" (सुरा सत्ताइसवीं, ६२)। "ईश्वर से क्षमा माँगो और उसकी ओर आकृष्ट हो। सचमुच ईश्वर दयालु और स्नेहशील है" (सुरा ग्यारहवीं, ९०)। "कह दो कि ऐ मेरे बन्दो, तुमने नियमों का उल्लंघन करके अपने को ही हानि पहुँचाई

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ १५०, १५७

है परन्तु तुम निराश न हो क्योंकि ईश्वर सभी पापों को क्षमा करता है। वह कृपालु और दयालु है।" (सुरा उन्तालीसवीं, ५३)। अर्रहमान शब्द, जिससे क़ुरान का प्रत्येक परिच्छेद प्रारम्भ होता है, इस बात का द्योतक है कि दैवी प्रेम का अंचल सभी जगत् के ऊपर है। वह मनुष्य पर इस प्रकार प्रभाव डालता है कि उसके हृदय के ऊपर का परदा हट जाता है और वह ईश्वर के निकट पहुँच जाता है। ईश्वर संसार का सृष्टा तथा पालक भी है। वह राग-द्वेषहीन दूरस्थ देवता से अधिक इतिहास और प्रकृति में व्याप्त सत्ता है। ईश्वर पूरब और पश्चिम दोनों ओर है। इसलिए तुम चाहे जिस ओर मुख करो, तुम्हें ईश्वर का स्वरूप दिखाई पड़ेगा। (प्रथम, ११५)। "और वह तुम्हारे ही भीतर है, वह तुम्हें क्यों नहीं दिखाई पड़ता?" (इक्यावनवीं, २१)। "हम शीघ्र ही सभी स्थानों में और उनकी आत्माओं में ही अपने प्रकाश को प्रकट करेंगे, यहाँ तक कि उनको विदित हो जाय कि यह सत्य है।" (बारहवीं, ५३)। इस भाँति कर्ता, पालक और न्यायी के गुण ईश्वर में प्रतिपादित हैं और उसको त्रिमूर्ति की कल्पना से बचानेवाली बात केवल यही है कि उसकी एकता पर सभी स्थलों में बल दिया गया है।

जीवात्मा का निर्माता ईश्वर है और जब तक वह पुनः ईश्वर में लीन नहीं हो जाती तब तक इसे विश्राम नहीं मिलता। उस जटिल प्रकृति को ईश्वर की भेंट कर देना चाहिए। हमें अपनी बुद्धि का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए जिससे हम सभी वस्तुओं में ईश्वर की सत्ता का अनुभव कर सकें। परमेश्वर को विद्यमान मान लेने से ईश्वर के भरोसे हो जाने की बात स्वाभाविक रीति से आ जाती है। हम ईश्वर की प्रार्थना करते हैं और विनम्रतापूर्वक अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। सभी प्रार्थनाओं का केन्द्रीय विषय यही रहता है कि व्यक्ति

विनम्र है, सभी अच्छे पदार्थों के देनेवाले ईश्वर का यश महान् है और ईश्वर की कृपा ही भक्त का अवलम्ब है। हम प्रार्थना के द्वारा अपने हृदय की कृतज्ञता को प्रकट करते हैं और इसके लिए पृथ्वी का प्रत्येक स्थल उपयुक्त है। हम दैनिक जीवन में उसके पथ-प्रदर्शन पर आश्रित रहते है और उसके आदर्श के अनुकूल अपने जीवन को बनाने के लिए सचेष्ट रहते हैं। चाहे हम ज्ञान-मार्ग का सहारा ल, चाहे भक्ति का और चाहे कर्म-मार्ग का, किन्तु उद्देश्य और परिणाम एक ही रहता है।

इस्लाम में नैतिकता का आदर्श काफ़ी ऊँचा है। यदि हमें उन्नति में रहनेवाले पिता के योग्य बनना है तो हमें ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे मनुष्य की दैवी उत्पत्ति पर शंका उत्पन्न हो। सच्ची धार्मिकता के विकास के लिए मुहम्मद ने रोज़ा, नमाज़, ज़कात (दान), हज्ज (मक्का की धर्म-यात्रा) और आचरण की शुद्धता पर बल दिया है। दान देना सभी के लिए अनिवार्य है। अतिथि-सेवा धर्म का अंग बन गया है। अव्यभिचार को एक विशेष गुण माना गया है। शराब के नशे में मस्त हो जाना, जुआ खेलना तथा अन्य अनुचित कार्यों की भर्त्सना की गई है। धर्म का सार नैतिक आचरण ही है। "जो भोग-वासनाओं और दिखावे से बचते हैं, दान देते हैं, प्रार्थना करते हैं, अपने वादों और उत्तरदायित्व को निभाते हैं. वे सनातन सुख के अधिकारी होंगे।" (सुरा तेईसवीं, ८)। "जो मुसलमान नंगों को कपड़े देता है, उसे ईश्वर ज़न्नत में हरे वस्त्र पहनायेगा।"* आदम के पुत्र इब्राहीम की कहानी, जिसके आधार पर ले हण्ट ने 'अबू बिन आधम' कविता लिखी है, यही शिक्षा देती है कि मनुष्यों का हितैषी ईश्वर का हितैषी है।

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ ५४

साधारण मुसलमान चाहे जो कुछ करता हो परन्तु इस्लाम-धर्म जीवधारियों की ओर से उदासीन नहीं है, वरन् वह उनके जीवन की पवित्रता पर बल देता है। "संसार में सभी जानवर और सभी पक्षी उसी प्रकार जीवधारी हैं जैसे कि तुम और अन्त में वह भी ईश्वर में ही लीन होंगे।"* जानवरों की क़ुर्बानी के सम्बन्ध में भारतीय मुसलमानों को क़ुरान की ये पंक्तियाँ स्मरण रखनी चाहिए—"ईश्वर उस जीव के खून अथवा मांस से सन्तुष्ट नहीं होता जिसकी तुम क़ुर्बानी करते हो, वरन् वह तुम्हारी धर्म-निष्ठा से सन्तुष्ट होता है।" (सुरा बाईसवीं, ३७)। क्षमा कर देना और विरोध न करना इस्लाम-धर्म के अन्तर्गत नहीं समझे जाते। इस सम्बन्ध में क़ुरान के निम्नांकित अवतरणों पर ध्यान देना उपयोगी होगा—"बुराई का बदला उस वस्तु से दो जो बेहतर है" (सुरा इकतालीसवीं, ३४)। स्वर्ग का वर्णन करते हुए मुहम्मद ने कहा—"यह उन भले लोगों के लिए है जो समृद्धि और निर्धनता की दशा में भी दान देते हैं, जो क्रोध को वश में रखते हैं, मनुष्य के प्रति क्षमा का व्यवहार करते हैं, क्योंकि परमात्मा नेकी करनेवालों से ही स्नेह करता है।" (सुरा बयालिसवीं, ७)। भोजन, तलाक आदि से सम्बन्ध रखनेवाली छोटी-छोटी बातों का इस्लाम-धर्म से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि मुहम्मद ने अपने समय को ध्यान म रखते हुए उनके विषय में भी कुछ आदेश दिये हैं लेकिन उनमें कोई विशेष धार्मिकता का पुट नहीं है। जैसा कि माननीय श्री अमीर अली कहते हैं—"खाने-पीने से सम्बन्ध रखनेवाली आज्ञाएँ, अर्थात् विधि-निषेध, मुहम्मद साहब ने प्रचारित अवश्य किये हैं किन्तु इस बात का स्मरण रखना

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा', पृष्ठ १५८

चाहिए कि वे उस समय की अस्थायी स्थिति के अनुकूल थे। उन परिस्थितियों के न रहने पर उन नियमों की आवश्यकता भी नष्ट हो गई है। इसलिए यह धारणा बनाना कि इस्लाम की प्रत्येक शिक्षा अनिवार्यतः अपरिवर्तनीय है, मनुष्य की बुद्धि के विकास और इतिहास के साथ अन्याय करना है।" पैग़म्बर साहब ने मनुष्य की बुद्धि को अंधाधुंध आदेशों की चेरी बनाने की शिक्षा नहीं दी। जो धर्म साधारण बुद्धि के आधार पर सभी दिशाओं में प्रभावित हुआ है, वह आजकल की दुनियाँ में अमानुषिक कृत्यों का समर्थक नहीं बनाया जा सकता। भारतीय मुसलमान आचार्यों के नेताओं को यह निश्चित करना पड़ेगा कि यदि उनके जीवन का आदर्श पारस्परिक प्रेम, अन्याय का शांतिपूर्वक सहन, किसी को कष्ट न पहुँचाना और अखिल विश्व की शांति और सदाशयता की उन्नति करना है तो भारतीय मुसलमानों की किन प्रथाओं में परिवर्तन वांछनीय है।

अन्तिम निर्णय के दिन वे लोग, जिन्होंने क़ुरान की शिक्षाओं की अवहेलना की है, बड़े संकट का अनुभव करेंगे और जिन्होंने उनके अनुरूप अपने जीवन को ढाला है वे ईश्वर में लीन हो जायँगे। मुहम्मद का बहिश्त में जाना इस बात का प्रतीक है कि ससीम और असीम का संयोग होना सम्भव है। सूफी मत का कथन है कि मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य ईश्वर में फ़ना (लीन) हो जाना है क्योंकि जो ईश्वर का दर्शन कर लेता है वह ईश्वरवत् हो जाता है। मनुष्य जिन दशाओं में होकर ईश्वरत्व प्राप्त करता है उनका जलालुद्दीन रूमी द्वारा इस भाँति वर्णन किया गया है--

"निर्जीव पदार्थ से पहले हम वनस्पति-जगत म प्रविष्ट हुए, उससे उठकर हम जीवधारी हुए और उसम भी उन्नति करने पर हम

मनुष्य हुए। तब फिर क्या भय है कि मृत्यु हमें निम्नतर कोटि में गिरा देगी! अगले जन्म में हम फ़रिश्ते होंगे और उस दशा से उन्नति करके हम नामहीन परमेश्वर में लीन होंगे। सभी सृष्टि पुकारकर कह रही है––"हम लौटकर ईश्वर में ही लीन होंगे।"

जीवन का ध्येय ईश्वर में लीन होना ही है। अल हुजवीरी नामक सूफ़ी कहता है—"जब मनुष्य अपने गुणों से परे हो जाता है तो वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह न तो निकट होता है और न दूर, न लिप्त और न विलग, न उन्मत्त और न सबोध, न घनिष्ठ और न अपरिचित; उस समय उसका न कोई नाम रहता है, न निशान।"* यद्यपि सूफ़ियों के अनुसार जीवन का चरम उत्कर्ष ईश्वर में लीन होना है, परन्तु क़ुरान उस जीवन का रोचक और स्वाभाविक वर्णन करती है जो मुक्तात्माओं को प्राप्त होता है। इस जीवन के वर्णन बहुत ही वास्तविक प्रतीत होते हैं और कुछ-कुछ शृंगार-पूर्ण भी, परन्तु उनको शाब्दिक अर्थ में सत्य मानना भूल होगी। "ऐ शान्त जीव! अपने स्वामी के पास वापस जा, प्रसन्न हो और उसे प्रसन्न कर। आ, मेरे सेवकों में सम्मिलित हो और मेरे आनन्द-कानन में विचर" (नवासिवीं, २७-३०)। यह दोनों मत वेदान्त के अद्वैत और आस्तिक भाष्यकारों के मतों के समान हैं। व्यक्तित्त्व का विकास पूर्णता प्राप्त करने तक रुक नहीं सकता, अस्तु भविष्य में चरित्र के उत्तरोत्तर विकास के लिए अवसर मिलते रहेंगे।

भविष्य हमारे वर्तमान जीवन पर आश्रित है। "भविष्य में प्रत्येक जीव वही भोगेगा जिसका उसने सौदा किया है" (दसवीं, ३०)।

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ १७२, २१३

स्वर्ग अथवा नरक हमारे कर्मों का ही फल है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि ईश्वर की अज्ञेय इच्छा ही सबको प्रेरणा देती रहती है। इस्लाम के परवर्ती इतिहास में ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता और मनुष्य के उत्तरदायित्व में साम्य स्थापित करने की अनेक चेष्टायें हुई हैं। क़ुरान में ऐसे स्थल हैं जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि ईश्वर मनमानी करता है। "चूंकि ईश्वर सभी का स्वामी है इसलिए वह जिसे चाहता है क्षमा करता है और जिसे चाहता है दण्ड देता है" (दूसरी, १८४; तीसरी, २२; पांचवीं, १८ और तेरहवीं, ३१ भी देखिए)। "सचमुच ईश्वर जिसे चाहता है भ्रम में डाल देता है और जिसे चाहता है उसे प्रायश्चित्त करने पर अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है" (तेरहवीं, २७)। ऐसे भी वाक्य हैं जो मनुष्य के उत्तरदायित्व पर ज़ोर देते हैं—"कोई भी जीव अपने अतिरिक्त और किसी के लिए परिश्रम नहीं करेगा और न कोई अपने अतिरिक्त किसी दूसरे का भार वहन करेगा" (दूसरी, २८६)। "जो किसी पाप का भागी होता है अपने ही कारण होता है" (चौथी, तीसरी)। "जो कोई पथ-भ्रष्ट होता है वह स्वयम् ही अपने भटकने के लिए पूर्णतः उत्तरदायी होता है" (दसवीं,१०८)। सर अहमद हुसेन का मत है कि भाग्य और प्रारब्ध इस्लाम-धर्म का अंग नहीं है (पृष्ठ १२, नोट 'द'), "रसूल ने स्पष्ट शिक्षा दी है कि पहले हमें अपनी शक्ति भर उद्योग करना चाहिए और तब शेष ईश्वर के सहारे छोड़ देना चाहिए। हम, सम्भव है, इस शिक्षा के पूर्वार्द्ध को भूल जायँ और केवल उसके उत्तरार्द्ध को याद रखें क्योंकि वह उष्ण-कटिबन्ध-जन्य आलस्य से मेल खा जाता है।" (पृष्ठ ६२, नोट 'ह')। मनुष्य नियति का खिलवाड़ नहीं है। उसे उचित अथवा अनुचित मार्ग के अनुसरण की स्वतंत्रता प्राप्त है। ईश्वर हमें

भलाई अथवा बुराई करने को बाध्य नहीं करता। वह केवल सत्य और पवित्रता का मार्ग दिखाता है और नियमों के पालन करने में हमारी सहायता करता है यद्यपि यदि हम उनकी अवहेलना करते हैं तो वह हमें दण्ड देता है। खलीफ़ा अली का कथन है—"ऐ खुदा के बन्दो! जो कर्तव्य तुम्हें सौंपा गया है उसे पूरा करो क्योंकि उसकी उपेक्षा करने में पतन है। तुम्हारा सदाचरण ही मृत्यु का मार्ग सुगम बना सकेगा। स्मरण रखो कि प्रत्येक पाप तुम्हारे ऋण को बढ़ाता है और तुम्हारे पाश को दृढ़तर बनाता है। दया का सन्देश आ गया है, सत्य का मार्ग स्पष्ट है, तुम्हें जो आज्ञा दी गई है उसका पालन करो, पवित्रता के साथ रहो, धर्मरत होकर कार्य करो और ईश्वर को अर्चना करो कि वह तुम्हें प्रत्येक उद्योग में सहायता दे और तुम्हारी पिछली भूलों को क्षमा करे।"* ईश्वर की आज्ञाएँ अध्यात्म-जगत् के नियममात्र हैं। ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है जो उसकी अर्चना करते हैं और वह अपनी दया उसी को प्रदान करता है जो पापी प्रायश्चित्त करता और अपनी आत्मा को अपवित्र वासनाओं से मुक्त करने की कामना करता है। खलीफ़ा अली ने कहा है—"यह न कहो कि मनुष्य बाध्य है क्योंकि इसका अर्थ है ईश्वर में निरंकुश अत्याचार का प्रतिपादन करना; न यही कहो कि मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता है। यह कहना अधिक उचित होगा कि हम उसकी कृपा और सहायता से अच्छे कार्य करने के लिए अग्रसर होते हैं और हम भूल केवल इस कारण करते हैं कि हम उसके आदेशों का ध्यान नहीं रखते।"†

* 'इस्लाम की अन्तरात्मा' पृष्ठ ४०९

† वही, पृष्ठ ४१०

इस्लाम रहस्यविहीन धर्म है। इसकी सादगी में ही इसकी शक्ति और सुन्दरता है। यहाँ न तो वे बारीकियाँ हैं जिनमें धर्म-पोपों को विशेष रुचि होती है, न वे उलटबाँसियाँ हैं जिनको दैविकता का लक्षण माना जाता है और न अध्यात्म की डींगें ही हैं। यह एक प्रकृति के सहारे चलनेवाला धर्म है जिसका मूल सिद्धान्त यह है कि ईश्वर सभी वस्तुओं को बनाता, पालता, वश में रखता और पूर्णता प्रदान करता है। यह उच्च ईश्वरवादी धर्म सरल चित्त और सीधे सादे व्यक्तियों के लिए बहुत ही उपयुक्त है। जहाँ तक संस्थाओं का सम्बन्ध है, यह पूर्णतः युक्तियुक्त है। इसमें न जाति है न पुरोहित, इसमें न बलिदान की आवश्यकता है न किसी पद्धति विशेष की और न किसी रूढ़िप्राप्त उपासना-विधि की जो मन को एक ईश्वर की कल्पना से विचलित कर दे। मक्का और काबा की यात्रा ही एक वाह्य साधन है जिस पर मुहम्मद ने जोर दिया है और वह भी एक विशेष सुविधा की दृष्टि से। प्रार्थना के समय मुसलमान मक्का की ओर मुख करता है क्योंकि वही वह ओजस्वी केन्द्र है जहाँ मुहम्मद की शिक्षा का पहले-पहल प्रचार किया गया था (सुरा दूसरा, १३९, १४४)। मक्का की ओर ध्यान लगाने से मुसलमान को यह अनुभव करने में सहायता मिलती है कि वह एक सम्प्रदाय का सदस्य है जो मुहम्मद को दूत मानने में एक मत है और जिसके सभी सदस्य समान आकांक्षाओं से पूर्ण, समान वस्तुओं के प्रति श्रद्धालु और समान आदर्शों के उपासक हैं। व्यवहार-क्षेत्र में इस्लाम की विशेषता उसका प्रजातंत्रवाद है। यही उसके धर्म-परिवर्तन कराने के प्रचार में सफलता की कुंजी है। यह अपने विस्तृत प्रांगण में प्रत्येक रंग और जाति के व्यक्ति को आमन्त्रित करता है। उसका विश्वास है कि ईश्वर के सेवक बनने की क्षमता सभी में है।

"प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में ईसा छिपे हुए हैं चाहे तुम उनकी सहायता करो चाहे उनका अवरोध, चाहे तुम उनको कष्ट पहुँचाओ अथवा उनके घावों का उपचार करो। यदि तुम किसी भी मनुष्य पर पड़े हुए पर्दे को हटा दो तो तुम निश्चय ही उसके नीचे ईसा को छिपा हुआ देखोगे।"*

मुसलमान 'तत्त्वमसि' के निष्कर्ष को निर्भय होकर स्वीकार करता है और कम-से-कम मस्जिद में मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद-भाव नहीं रखता। ईश्वर की दृष्टि में मनुष्यमात्र की समानता के सिद्धान्त की दुहाई देते रहने पर भी यह बात हिन्दू-मन्दिरों और ईसाई-गिरजाघरों के विषय में नहीं कही जा सकती। हम सब ईश्वर की सन्तान हैं और इसलिए आपस में भाई-भाई हैं—इन दो सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुए इस्लाम की सरल शिक्षा, संसार के अनेक अन्धकार-पूर्ण स्थलों से बर्बर क्रियाओं को हटाने और करोड़ों व्यक्तियों को उच्चतर जीवन बिताने की प्रेरणा देने की शक्ति का प्रदर्शन कर चुकी है। इसने पिछड़ी हुई जातियों को वासनात्मक अनेकेश्वरवाद की भूल-भुलैया से निकल आने और शैतान की उपासना, बाल-हत्या, नर-बलि, जादू-तंत्र आदि से बचने में सहायता दी है। इसका भविष्य भी विशाल होगा परन्तु वह तब जब कि यह निस्संकोच और निर्मम भाव से सभी नये विषैले पौधों को काट दे और दैनिक जीवन म अपने दोनों मौलिक सिद्धान्तों पर आचरण करे।

इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दू-धर्म ने समुचित लाभ नहीं उठाया।

* क्लाड फ़ील्ड द्वारा विरचित "इस्लाम के सूफ़ी और सन्त" पष्ठ १५६

यह सत्य है कि चैतन्य, कबीर, नानक आदि द्वारा संचालित सुधार-आन्दोलन, इस्लाम की अन्तरात्मा से काफ़ी प्रभावित हुए हैं। हिन्दू-धर्म की अद्वैत-धारा इस्लाम के प्रचार के बाद और पुष्ट हो गई है, परन्तु हिन्दू-धर्म सुगमता से काफ़ी और सीख सकता था। दूसरों के धर्म का ज्ञान न होना अन्याय और भूल का स्रोत है। कतिपय असभ्य मुसलमानों के कार्यों ने हिन्दुओं के लिए इस्लाम के आदर्शों का समझ सकना असम्भव कर दिया है। जहाँ इस्लाम हिन्दू-धर्म की सहानुभूतिपूर्ण जानकारी द्वारा बहुत सीख सकता है, वहाँ हिन्दू-धर्म भी इस्लाम से बहुत कुछ पा सकता है। एक बात तो यही है कि हिन्दू-धर्म को ईश्वर-सम्बन्धी अपूर्ण धारणाओं एवं निम्न कोटि की उपासना-विधियों के प्रति कम सहृदय होना चाहिए और अधिक निश्चित ढंग से उनका विरोध करना चाहिए। हिन्दू-धर्म ने यह मानने की मूर्खता की कि सत्य धीरे-धीरे प्रगट होकर रहेगा और निम्न कोटि की शिक्षाएँ अपने आप छोड़ दी जायँगी। हिन्दू-धर्म का विश्वास था कि जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश के सामने अन्धकार विलीन हो जाता है, उसी प्रकार सत्य के सम्पर्क में आकर असत्य स्वयम् ही नष्ट हो जायगा। यह आशा आशा ही रह गई है। वे भी जो ईश्वर के सम्बन्ध में उच्चतम विचारों से अवगत हैं, बर्बरता की जघन्यतम क्रियाओं में लिप्त देखे जाते हैं। जो बड़ी सफ़ाई के साथ अहिंसा की बात करते हैं, वे ही बलि देने को प्रोत्साहित करते दिखाई पड़ते हैं। हिन्दू-धर्म को अपनी उदारता छोड़ देने की आवश्यकता नहीं है परन्तु उसे इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि अच्छे-बुरे का अन्तर स्पष्ट बना रहे और उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे। हमें अपनी संस्थाओं को अधिक प्रजातंत्रात्मक बनाना चाहिए और विरोधी मतों के झगड़ों, दुरूह सिद्धान्तों और उन

अत्याचारपूर्ण संस्थाओं को, जिनके कारण मनुष्य की आत्मा सचमुच पिसी जा रही है, नष्ट कर देना चाहिए। इस्लाम और हिन्दू धर्म अपने उच्चतम स्वरूप में यही शिक्षा देते हैं कि ईश्वर की सत्य और पवित्रता के साथ सेवा करना और जीवन की सभी घटनाओं में उसकी आज्ञाओं को श्रद्धा के साथ पालन करना ही यथार्थ धर्म है।

५

# हिन्दू-मत और ईसाई-धर्म

ऑक्सफ़र्ड सभा में श्री ग्रीव्स ने जो हिन्दू-धर्म पर निबन्ध पढ़ा था* उसमें लिखा है—"स्थूलरूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दू लोग अपने प्रसिद्ध धर्म-सिद्धान्तों से प्रायः उतने ही आगे बढ़े हुए हैं जितने कि ईसाई कहे जानेवाले लोग ईसाई-सिद्धान्तों से पीछे हैं।" जहाँ तक हिन्दुओं के आचरण का प्रश्न है यह निष्कर्ष बहुत उदार है किन्तु इसके मूल में जो यह भावना है कि हिन्दू-सिद्धान्त इस आवरण से कम योग्यता के हैं वह विवादग्रस्त है। जो बात हमारी समझ में नहीं आती उसे बुरा कह देने को हम सदा तैयार रहते हैं और जो लोग हिन्दू-धर्म को दूर से देखकर उस पर अपना निर्णय देना चाहते हैं वे उसकी प्रबल सजीवता से अनभिज्ञ हैं। 'स्वाभाविक धर्म-बुद्धि' के बिना हम उन महान् सिद्धान्तों को कैसे समझ सकते हैं जिनके लिए अनेक लोगों ने प्राण तक न्योछावर कर दिये तथा अब भी करते रहते हैं। यदि इसी

* माडर्न चर्च मैन, अक्टूबर, १९२२

दृष्टिकोण से हम दूसरे धर्मों को देखें तो हमें मालूम पड़ेगा कि सभी धर्मों में एक ही प्रकार के मूल सिद्धान्तों पर जोर दिया गया है कि ईश्वर है, मनुष्य का ईश्वर से कुछ सम्बन्ध है तथा जो व्यक्ति ईश्वर के अनुकूल्य का अभिलाषी है उसे किसी-न-किसी प्रकार की ईश्वरानुभूति अवश्य होती है। संसार के प्रगतिशील एवं सजीव धर्मों में अन्तर इतना ही है कि एक किसी बात पर बल देता है और दूसरा किसी दूसरी बात पर और इसका कारण ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की भिन्नता है। यह जानकर परम सन्तोष होता है कि उदार आलोचना, वर्द्धमान प्रकृति-विज्ञान, अध्यात्मशास्त्र, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान, धार्मिक चेतना का मनोवैज्ञानिक अध्ययन एवं रहस्यानुभूति से प्रगाढ़तर परिचय के फलस्वरूप ईसाई-पण्डित धर्म-पुनर्निर्माण में संलग्न हैं जिससे ईसाई-धर्म हिन्दू-धर्म के निकट आ रहा है और ऐसा मालूम पड़ता है कि ईसाई-धर्म तथा अन्य धर्मों में जो भेद-भावना है वह समाप्त हो जायगी। इस निबन्ध में बहुत संक्षेप--एक छोटे से निबन्ध में विशद वैज्ञानिक विवेचन सम्भव नहीं--हिन्दू-धर्म के कुछ मूल-सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा जिससे हिन्दू-धर्म एवं ईसाई-धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध का परिचय मिल सके। हिन्दू-धर्म के मूल सिद्धान्तों से हमारा अभिप्राय उन सामान्य विचारों से है जो हिन्दू-धर्म के लम्बे इतिहास में उसके भिन्न-भिन्न रूपों में, ईश्वर, मनुष्य तथा उसके भविष्य के सम्बन्ध में बराबर पाये जाते रहे हैं।

(१)

हिन्दू-मत से ईश्वर का रहस्य समझने म मनुष्य की बुद्धि अक्षम

है। अनेक शास्त्र-वचनों में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि मनुष्य की स्थल-बुद्धि ईश्वर के सूक्ष्म स्वरूप को समझने में अशक्त है। परमात्मा के अनन्त गुण तथा रूप हैं जिनका ज्ञान हम मनुष्यों को नहीं है, परन्तु कोई भी हिन्दू इस निषेधात्मक निर्णय से सन्तुष्ट नहीं होता। वह अपने स्वरूप के उपमान के आधार पर, जो ज्ञान, भावना एवं इच्छाओं का समुच्चय है, ईश्वर की व्याख्या करना चाहता है। वह ईश्वर को शरीरयुक्त व्यक्ति, पुरुष, कहता है और उसमें विचार-शक्ति एवं स्नेह आदि गुणों का सन्निवेश करता है। वह बराबर यह जानता रहता है कि ईश्वर का शरीर केवल एक परदा है, इस रूप में किसी उच्चतर वस्तु की अभिव्यक्ति हो रही है। ईश्वर का व्यक्तित्त्व मनुष्य के व्यक्तित्त्व की तरह सीमित तथा बद्ध नहीं है क्योंकि हमारी गति एवं जीवन ईश्वर में ही सम्भव है।

चूंकि ईश्वर के व्यक्तित्त्व में ज्ञान, स्नेह एवं श्रेष्ठता का समन्वय होता है अतः विश्व-सम्बन्धी उसकी क्रियाएँ सृजन, निस्तार एवं न्याय की क्रियाएँ होती हैं; ब्रह्मा, जो ईश्वर के ज्ञान-स्वरूप का प्रतीक है, सृष्टि-रचना करता है; विष्णु, जो उसके स्नेह का द्योतक है, हमारा भरण-पोषण करता है; शिव, जो सर्वशक्तिमान् एवं पूर्ण है, हमारा न्याय करता है। विश्व की व्यवस्था ईश्वर के मस्तिष्क की सूचक है। ईश्वर के नित्य विचार देश-काल के रूप में क्रमशः अभिव्यक्त होते हैं। प्रत्येक वस्तु बराबर यह प्रयास करती है कि अपनी अपूर्णता को दूर कर सके जिससे वह उन नित्य रूपों के समकक्ष हो सके अर्थात् ईश्वर के उद्देश्य की पूर्ति कर सके। सृष्टि-व्यापार एक निरन्तर विकास है जिसमें द्रव्य नवीन तथा उच्चतर गुणों को प्राप्त करते एवं पुराने गुणों का परित्याग करते हैं। ब्रह्मा की कल्पना ईश्वर की अनन्तता एवं

नित्य-सृजन-संलग्नता को प्रगट करती है। ईश्वर के सृजन का लक्ष्य यह है कि जीव अपने दिव्य मूल तथा दिव्य परिणाम की अभिव्यक्ति कर सकें। ईश्वर की सृष्टि भर में मनुष्य ही केवल अपने मूल स्वरूप को पूर्णतः व्यक्त कर सकता है एवं वस्तुओं की यथार्थता को प्रदर्शित कर सकता है। जब ईश्वर ने मनुष्य की रचना की तो उसने उसे उन नियमों का ज्ञान भी दिया जिनका पालन उसे करना चाहिए, यदि वह अपने दिव्य लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। भगवद्गीता (३, १०) में लिखा है--"ब्रह्म ने यज्ञसहित प्रजा की सृष्टि की।" यह यज्ञ, यह धर्म-नियम, ही वह साधन है जिसके द्वारा हम ईश्वर-निर्धारित अपने आदर्श की प्राप्ति करके ईश्वरभाव को, ब्रह्म-स्वरूप को, प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु हम अपने मूल को भूलकर, ईश्वर की सृष्टि में अपने स्थान को भूलकर, यज्ञ-नियम को भूलकर स्वार्थ-साधन में पड़कर अपने को नष्ट किया करते हैं। तभी ईश्वर के स्नेह अथवा करुणा की आवश्यकता होती है। सबसे महान् ब्रह्मा ही सबको स्नेह करनेवाला विष्णु भी है। देशकाल, भौतिक जगत्, प्राणि-जीवन तथा मानव-इतिहास के पीछे रहकर अपनी करुणा एवं स्नेह को सर्वत्र बिखेरकर सर्वव्यापी विष्णु मानवात्मा को पाप तथा अविद्या का सामना करने में सहायता देता है। वही हमारे जीवन का मूल आधार है, वही हमारी वह अन्तर्ज्योति है जो परम पवित्र होने के कारण पाप-कर्म में अपनी सम्मति नहीं दे सकती, जो स्वयं चिरंतन होने के कारण किसी भी क्षण-भंगुर पदार्थ में अनुरक्त नहीं हो सकती एवं जो परम स्नेहशीला होने के कारण किसी को भी अनात्मीय नहीं समझ सकती। वह कल्याणकारी ईश्वर है तथा इस बात का प्रमाण है कि संसार मंगल अथवा शिव की ओर बढ़ रहा है। पर वह हमारी इच्छा के विरुद्ध कुछ

नहीं करता। उसका मंगलमय कार्य ब्रह्मा की सृष्टि-व्यवस्था के अनुकूल ही होता है। ईश्वर उन सृष्टि-नियमों की अवहेलना करके, जिनका उसने स्वयं निर्माण किया है, अपने महत्त्व को प्रदर्शित करने की इच्छा नहीं करता। यद्यपि विष्णु सदा ही हमारी सहायता करन को तैयार रहता है पर हमारे पाप तथा अज्ञान उसकी करुणा के महान् अवरोधक हैं। यदि हम ईश्वर पर विश्वास करके उसकी प्रार्थनामात्र करें तो भी वह संकट से हमारी रक्षा करता है। कृष्ण ने गीता में कहा है—"यदि दुराचारी भी अनन्य गति होकर हमारी उपासना करता है तो उसे साधु ही समझना चाहिए क्योंकि उसका निश्चय ठीक है। शीघ्र ही वह धर्मात्मा बन जायगा एवं अनन्त शान्ति प्राप्त करेगा। तुम दृढ़तापूर्वक कह सकते हो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता।"* अतएव महान् पापी के लिए भी उद्धार की आशा है। ईश्वर केवल सत्य और प्रेम ही नहीं है, वह न्याय भी है। वह शक्ति एवं पूर्णता की मूर्ति, भलाई एवं बुराई का निर्णायक तथा कर्म का स्वामी कर्माध्यक्ष भी है। जब हम पाप करते हैं तो निर्णायक शिव हमें दण्ड देता है।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीन भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं हैं वरन् वे एक ही अद्वितीय ईश्वर के कर्तव्य-भेद से तीन रूप कर लिये गये हैं। ब्रह्मा कुछ शक्तियाँ देकर हमें उत्पन्न करता है, विरोधों पर विजय प्राप्त करके उन शक्तियों का पूर्ण विकास करने में विष्णु हमारी सहायता करता है तथा शिव मंगल को विजयिनी आत्मनिर्भरता का द्योतक है। जैसा तैत्तरीय उपनिषद् में लिखा है—"जो सब पदार्थों का

* गीता—९, ३०-३१

उद्भव है, जो उन्हें धारण करता है तथा जिसमें वे लय को प्राप्त होते हैं वह एक ही है।" ईश्वर ही सत्य है, वही पथ एवं वही जीवन है। वह एक होने पर भी तीन बताया जाता है—एक एव त्रिधा स्मृतः। सृष्टि, पालन एवं न्याय विचार ये रचनात्मक विकास के तीन मुख्य रूप हैं।

जब हम परमात्मा को सृष्टिकर्ता, उसका रक्षक तथा न्यायकर्ता की दृष्टि से ईश्वरीय आत्म-चेतना के तीन रूपों का समुच्चय मानते हैं तो हमें मानना पड़ेगा कि वह विश्व, जिसके सम्बन्ध से ही इन कर्मों का कोई अर्थ हो सकता है, ईश्वर से अविभक्त रूप में सम्बन्धित है। कुछ उपनिषदों, भगवद्गीता तथा आस्तिक वेदान्त के मत से यह संसार भगवान् का शरीर है। हिन्दू-शास्त्र प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने से डरता नहीं। वह संसार से परे अपने ही अरुचिकर एकान्त में रहनेवाले किसी अलौकिक परमात्मा में विश्वास नहीं करता। गीता में कृष्ण ने कहा है कि संसार का समस्त सौन्दर्य, उसका सम्पूर्ण सत्य, उसका अखिल मंगल ईश्वर की अभिव्यक्ति के विविध रूप हैं। प्रकृति उसकी महत्ता का आवरण, उसके शब्द का व्यक्त स्वरूप एवं उसके विचारों की मूर्ति है। यह निम्न कोटि का सर्ववाद नहीं है। यथार्थ और आदर्श में, उत्कृष्ट और निकृष्ट में भेद किया गया है। हिन्दू-धर्म इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य अपौरुषेयता की उपलब्धि करे। इसका अर्थ है कि वस्तु-जगत् के परे भी कुछ है जिस तक पहुँचने का प्रयास मनुष्य बराबर किया करता है। मुक्ति का अर्थ यह है कि ऐसा भी कुछ है जिससे छुटकारा पाने की आवश्यकता है। यदि सब ब्रह्म ही है तो मुक्ति की, ईश्वर के अनुग्रह की आवश्यकता ही कैसी? ईश्वर प्रकृति का प्राणमात्र ही नहीं है वह तो उसके परे

उसका सृष्टा, उसका स्वामी भी है। हिन्दू-धर्म को हेगल-प्रतिपादित विश्व-व्यापार तथा परमात्मा का ऐक्य मान्य नहीं है। ईश्वर संसार का मूल अवश्य है पर संसार का नाश होने से स्वतंत्र है तथा उसके परे है। उसकी गति संसार में सर्वत्र है, वह सबमें व्याप्त है, सबका शासक है फिर भी स्वयं सबसे अनिर्लिप्त, सबसे अलग बना रहता है।

नदी का जल उद्‌गम-स्थान पर ही सबसे अधिक निर्मल होता है। यह लोकोक्ति ईसाई-धर्म पर सर्वथा चरितार्थ होती है। यदि हम ईसा के जीवन तथा उनकी शिक्षा पर दृष्टिपात करें तो उस धर्म के मुख्य सिद्धान्तों का हमें स्पष्ट ज्ञान हो जायगा। 'प्राचीन धर्म पुस्तक' का 'जहोवा' प्रधानतः जातीय देवता ही था। यद्यपि 'होशा' तथा 'इशाया' आदि कुछ महात्मा उसे समस्त संसार का ईश्वर कहते थे पर वे भी संकीर्ण प्रान्तीय भावना से सर्वथा मुक्त नहीं रह सके। उनकी दृष्टि में भी यहूदी ही परमात्मा की विशिष्ट प्रजा थे तथा वे ग़ैर-यहूदी जातियाँ, जो जहोवा की महत्ता को स्वीकार कर लेती थीं तथा जिग्रान में आकर उसकी उपासना करती थीं, हीन समझी जाती थीं। ईसा ने ईश्वर की कल्पना से सब प्रकार की परिच्छिन्नता को दूर कर दिया। उसे ईश्वर के निर्पेक्ष रूप में ख़ास दिलचस्पी नहीं थी; उसने बड़े ही स्तुत्य ढंग से उसके उस रूप का हमें दर्शन कराया जिसमें वह मनुष्य तथा संसार से जड़ित है। यद्यपि उसने ईश्वर के ज्ञान, स्नेह एवं शक्ति तीनों रूपों की चर्चा की है पर परिस्थितियों के अनुरोध से ईश्वर के प्रेम पर ही विशेष बल देना पड़ा। यहूदी महात्माओं में से जो अपेक्षाकृत श्रेष्ठ थे, उन्होंने भी ईश्वर के क्रोध एवं न्याय पर ख़ास ज़ोर दिया था। इशाया ने कहा था--"जब ईश्वर पृथ्वी को

प्रबल वेग से हिला डालने को उठेगा तो उसकी महत्ता तथा आक्रोश से भयभीत होकर मनुष्य गिरि-कन्दराओं तथा भू-छिद्रों में जा घुसेंगे।" इसके विपरीत ईसा ने ईश्वर के पिता-रूप तथा हमारे प्रति उसके वात्सल्य स्नेह की कल्पना पर विशेष बल दिया है। परमात्मा सबसे पहले प्रेम है; वह हमारा रक्षक है। ईसा ने ईश्वर के दूसरे रूपों की भी उपेक्षा नहीं की। संसार की सुव्यवस्था उसका ज्ञान प्रकट करती है। बिना किसी पक्षपात के न्यायी तथा अन्यायी सबको ही सूर्य का प्रकाश प्राप्त है और यही बात जल-वृष्टि के सम्बन्ध में भी सच है। ईसा ईश्वरकृत विशिष्ट विधान में विश्वास नहीं करता।* वह उस क्षुद्र स्वार्थपरायणता को फटकारता है जो समझती है कि पापियों को कठोर दण्ड देने के लिए अथवा पुण्यात्माओं को भली भाँति पुरस्कृत करने के लिए ईश्वर सृष्टि के स्वाभाविक नियमों में उलट-फेर कर दिया करता है। पत्थरों को रोटियों में परिणत करने के प्रलोभन में वह नहीं फँसा। शारीरिक रोगों को जो उसने दूर किया, वह सब नियम-सम्मत ही था एवं जहाँ विश्वास का अभाव था, वह स्वास्थ्य देने में असमर्थ ही रहा। ईश्वर अचल सत्य है और उसका विश्व कभी अराजक नहीं हो सकता। ईश्वर न्यायकर्ता भी है। ईश्वर का न्याय बाइबिल का प्रधान विषय है। आदम तथा हौआ के शाप तथा केन के प्रत्याख्यान से आरम्भ करके सेन्ट जान के संदिग्ध प्रमाण 'दर्शन' तक ईश्वर की प्रभुता तथा न्याय पर जोर दिया गया है। अन्त में ईश्वर के उद्देश्य की ही विजय होगी। यहूदी-धर्माचार्यों के ही समान ईसाइयों ने भी पाप-स्वीकृति एवं ईश्वरीय करुणा की अपेक्षा परमात्मा के

* लूक १३, १-५

न्याय तथा क्रोध पर प्रायः बहुत ज़ोर दिया है।

जब ईसा के अनुयायियों ने उसे ईश्वर की पदवी पर पहुँचा दिया तो ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव के तीनों रूप, अनन्तता, करुणा तथा प्रभुता, ज्ञान, प्रेम तथा शक्ति का उसमें आरोप कर दिया गया। वह ईश्वर का शब्द अथवा ज्ञान है जो इब्राहीम से पहिले भी था। वह रक्षक है जिसने कलवरी की शूली पर अपना स्नेहसिक्त हृदय खोला था। वह न्याय-कर्ता है जो उन सब लोगों को दण्ड देता है जो उसे रुष्ट कर देते हैं। बपतिस्मा देनेवाले जान का कथन है—"मेरे पश्चात् आनेवाला वह (ईसा) अपने गेहूँ को तो बटोरकर कोठरी में सुरक्षित रख छोड़ेगा परन्तु भूसे को वह प्रज्वलित वह्नि में जला डालेगा।" वह "भेड़ों को बकरियों से चुनकर अलग कर लेगा।"*

'त्रिमूर्ति' के सिद्धान्त ने केवल ईसा को ही ईश्वरता नहीं प्रदान की, प्रत्युत् 'प्राचीन धर्म-पुस्तक' में ईश्वर का जो एकांगी रूप स्वीकृत किया गया था उसमें भी सुधार किया। ईश्वर स्वर्ग में स्थित केवल अनन्त शक्ति (पिता) ही नहीं है वरन् वह प्रेमपूर्ण हृदय (पुत्र) भी है तथा अखिल विश्वव्यापी दिव्य तत्त्व (पवित्र आत्मा) भी है। परमात्मा संसार से परे की कोई दिव्य सत्ता नहीं है वरन् वह अनन्त प्रेम है जिसकी धारा विश्व-कल्याण के लिए नित्य प्रवाहित हो रही है। अवेलार्ड एवं एक प्रकार से अक्यूनस भी इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि न्याय-निरत वृद्ध जिहोवा-शक्ति का केन्द्र पिता (शिव) है, एवं पवित्र आत्मा ही व्यापक प्रेम (विष्णु) है। इस सिद्धान्त के अनुसार पिता, पुत्र तथा पवित्र आत्मा वेदान्तिक कल्पना के सत् चित्

* मैथ्यू २५, ३१-४६

एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म के—सत्य, ज्ञान एवं आनन्द के—अनुरूप ही है। एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि त्रिमूर्ति का सिद्धान्त ईश्वर के त्रिविध स्वरूप को व्यक्त करने का प्रयास है। आधुनिक ईसाई-धर्म-विज्ञान यह अनुभव कर रहा है कि ईश्वर के तीनों रूपों की एकता तभी सम्भव है जब हम उन्हें उसकी क्रिया के तीन प्रकार समझें, भिन्न-भिन्न तीन चेतना-केन्द्र नहीं।

प्राय: कहा जाता है कि हिन्दू-धर्म म ईश्वर के न्याय पर ज़ोर दिया जाता है एवं ईसाई-धर्म में उसके प्रेम पर। यह धारणा सर्वांशत: ठीक नहीं है। इस प्रश्न पर दोनों मतों में विशेष अन्तर नहीं है। प्रेमदेव विष्णु हमारी सहायता करने को सदा तैयार रहता है; वह तो केवल हमारे प्रयत्न की प्रतीक्षा किया करता है। वह हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारी सहायता नहीं करता। हमारे पाप करने पर भी वह हमारा उद्धार तभी करता है जब हम आत्मग्लानि का अनुभव करते हैं। ईश्वर हमारे लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है पर यदि हम पापाचरण एवं स्वार्थपरायणता में ही रत रहें तथा उससे दया-याचना न करें तो न्यायानुमोदित दण्ड का विधान होगा ही। ईश्वर स्वयं अपनी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह सबको क्षमा कर देना चाहता है परन्तु कुछ ऐसे भी दुष्कर्म हैं "जिनके लिए क्षमा न तो इस लोक में और न परलोक में ही मिल सकती है।" ईश्वर के प्रेम की भी एक प्रणाली है जिसके अनुसार उसका प्रकाशन होता है। यह कहना ठीक नहीं कि इससे उसकी सर्वशक्तिमत्ता परिसीमित हो जाती है। सर्व-शक्तिमत्ता विवेकहीनता नहीं है। ईसा को भी मान्य है कि अध्यात्म-जगत् के भी नियम हैं। तुच्छ तृण, चोर, गुप्त धन, मोती, पथ-भ्रष्ट भेड़, मुद्रा, दश कुमारिकाओं एवं वैवाहिक वस्त्रों की दृष्टान्त-कथाओं

का यही संकेत है कि हमारी मुक्ति अपने ही कर्मों से हो सकती है।* पांच मूढ़ कुमारियों ने अवसर से लाभ नहीं उठाया, अतः वे अपने उद्दश्य-प्राप्ति में असफल रहीं। यदि हम क्षमा चाहते हैं तो हमें स्वयं क्षमा करना होगा; यदि हमें जीवन की प्राप्ति अभीष्ट है तो हमें आत्म-विसर्जन करना होगा। अध्यात्म-जगत् के नियम इतने दृढ़ हैं कि ईश्वर का प्रेम भी उनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। मुक्ति का उपार्जन करना होगा, उसे ईश्वर हमारे ऊपर जबरदस्ती लाद नहीं सकता। दूसरों के पापों के लिए स्वयं दण्ड भोगने का स्पष्ट संकेत है कि ईश्वरीय प्रेम न्याय-सम्मत है। उससे सिद्ध होता है कि क्षमा करने से पहिले दण्ड-विधान आवश्यक है।

पाश्चात्य ईसाई-धर्म अनेक प्रभावों का परिणाम है। यूनान-विरोधी यहूदी-धर्म से उद्भव होने के कारण उसका झुकाव ईश्वर के दिव्य अलौकिक स्वरूप की कल्पना के समर्थन की ओर है। अरब तथा यहूदी दोनों को ही प्रकृति शुष्क तथा नीरस प्रतीत होती थी; यूनानी एवं भारतीय को वह जीवित तथा दिव्य मालूम पड़ती थी। अतएव इन लोगों ने आध्यात्मिक तथा लौकिक में, प्राकृतिक तथा पारलौकिक में, आत्मा तथा शरीर में बहुत ज़्यादा भेद नहीं माना। हिन्दू-कल्पना की पुष्टि विज्ञान करता है जो प्रकृति की तात्त्विक एकता पर ज़ोर देता है। सर्वव्यापी नियम-प्राधान्य अनवस्था को पास नहीं फटकने देता। लोकोत्तर की सत्ता लोक के हृदय में ही है। जैसा अरिस्टाटिल ने कहा था—प्रकृति का शरीर ही आत्मा है। ईश्वर संसार का प्राण है।

* मैथ्यू १३, २४-३०; २४, ४३; १३, ४४; १३, ४५-४६; १८, १२; २५, १४-३०; २५, १-२३; २२, १-१४

इतिहास के अर्थ एवं उसके विकास के सिद्धान्त का अधिकाधिक ज्ञान, धार्मिक चेतना तथा उसकी प्रगति का नूतन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सामान्य में ही दिव्य देखना चाहता है, असाधारण में नहीं। ईश्वर की वह कल्पना जो उसे भिन्न वाह्य नियामक समझा करती थी, वैसे ही जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, जिसका प्रचार ईसा के बाद पाल आगस्टीन, लूथर तथा कॉलविन की परम्परा से ईसाई-धर्म में बराबर रहा है—ईसा स्वयं अपने धार्मिक वातावरण से काफ़ी जकड़ा था—अब धीरे-धीरे तिरस्कृत होकर एक अधिक व्यापक कल्पना स्वीकृत हो रही है। ईश्वर की सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकृत करने में पर्याप्त सैद्धान्तिक नवगठन की आवश्यकता होगी तथा प्राचीन कल्पना से जड़ित अनेक धार्मिक भावनाओं का परित्याग करना होगा। यह नहीं हो सकता कि हम ईश्वर को सर्वव्यापक भी मानते रहें तथा चमत्कार, विशिष्ट-कृपा-पात्रता, एक की ही मध्यस्थता, मुक्ति की विकास पर नहीं, ईश्वरीय करुणा पर निर्भरता एवं मृत्यु के अनन्तर अधिकांश मनुष्यों के निश्चित नरकवास की कल्पना से भी चिपटे रहें। ईसाई-धर्माचार्य भी अब भिन्न-भिन्न मात्रा में पूर्ण सर्वव्यापकता के सिद्धान्त को अपना रहे हैं। यहूदी-वंशानुक्रम के फलस्वरूप ईसा के मार्ग में काफ़ी अड़चनें थीं तो भी ईश्वर की सर्वव्यापकता में उसका दृढ़ विश्वास था। "ईश्वर का राज्य तुम्हारे हृदय में है।" हिन्दुओं की ही भाँति ईसा को भी मान्य था कि संसार में घटित होनेवाले परिवर्तन दूरस्थ परमात्मा के आकस्मिक हस्तक्षेप का परिणाम नहीं हैं प्रत्युत् वे उसकी नियमित प्रगति का फल हैं। ईसा के जीवन से हिन्दुओं को प्रधान उपदेश यह मिलता है कि ईश्वर तथा मनुष्य में भेद की कल्पना करना मिथ्या एवं निरर्थक है। ईसा स्वयं एक ऐसे मनुष्य का उदाहरण

है जो ईश्वर बन गया है और कोई निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि कहाँ पर उसकी मानवता की समाप्ति एवं ईश्वरता का प्रारम्भ है। ईश्वर तथा मनुष्य एक-जातीय ही हैं। "तत्त्वमसि।" तुम वही हो।

(२)

जीवन तथा इतिहास में ईश्वर की व्यापकता तथा युग विशेष में उसका अपूर्व प्रादुर्भाव इन दोनों सिद्धान्तों में पारस्परिक विरोध है। हिन्दू-धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण आध्यात्मिक विकास में ईश्वर को व्यापक मानता है। फिर भी इस निरन्तर विकास के कुछ महत्त्वपूर्ण रूपों को वह ईश्वर की उपस्थिति के विशेष परिचायक मानता है। यद्यपि ईश्वर जीवन की प्रत्येक अवस्था में व्यापक रहकर उसे नियंत्रित करता है फिर भी वे अवस्थाएँ, जिनमें उच्च रूपों का विकास हुआ है एवं श्रेष्ठ रूपों को प्रौढ़ता मिली है, ईश्वर की व्यापकता को स्पष्टतः प्रगट करती हैं। ये अवस्थाएँ, जिनमें उच्च एवं श्रेष्ठ रूपों का विकास हुआ है, उसकी व्यापकता का स्पष्ट निर्देश करती हैं। ऐसी दशा में मानवेतर अवतारों का प्रादुर्भाव होता है। मानव-सृष्टि के पश्चात् नैतिकता का प्रश्न उठ खड़ा होता है तथा ईश्वर की निरन्तर करुणा, नैतिक व्यवस्था में क्षोभ उत्पन्न होने पर अधिक स्पष्ट हो उठती है। तब नीति के पुनः संस्थापन के लिए असाधारण शक्ति से युक्त पुरुषों का प्रगट होना आवश्यक हो जाता है।* ये महान् आत्माएँ, जो

* भगवद्गीता ४, ७-८ प्रोफ़ेसर हाग की 'संसार से मुक्ति' नामक पुस्तिका भी देखना चाहिए।

धर्म का, नीति का, अविचलित भाव से समर्थन करती हैं, अनित्य में नित्य का, भूसे में अन्न का सामान्य पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट दर्शन कराती हैं। आध्यात्मिक महत्त्व की इन अभिव्यक्तियों को चाहे ईश्वर का अवतार कहो, चाहे मनुष्य की शक्तियों का पूर्ण विकास, क्योंकि ये दोनों एक ही बात को प्रगट करने के दो ढंग हैं। उन्हें हम ईश्वर की गम्भीरता की नूतन अभिव्यक्ति अथवा मानव-सम्भावनाओं का निश्चित विकास कहते हैं। धार्मिक लोग स्वभावतः उन्हें ईश्वर के संकल्प से उत्पन्न समझते हैं जिन्हें वह दिव्य ज्ञान से अपने उद्देश्य को सफल करने के लिए किया करता है। किन्तु भारत के उच्च दर्शन का तो यही दृढ़ मत है कि परमात्मा सदैव कर्म में लगा रहता है तथा प्रेम उसका साररूप है, यदा-कदा प्रगट होनेवाला आकस्मिक चमत्कार नहीं।

किसी-न-किसी मात्रा में सभी मनुष्य ईश्वर के स्वरूप के, उसकी शक्ति, प्रेम और सत्य के प्रतिबिम्ब होते हैं; पर जिन्हें अवतार कहते हैं वे अधिक मात्रा में विशेषतः उसे प्रतिबिम्बित करते हैं। राम, कृष्ण तथा बुद्ध के सम्बन्ध में भी यही सच है। ईसा भी एक अवतार है क्योंकि शूली पर लटके हुए भी उसने पापियों के लिए जो प्रार्थना की थी—"पिता, इन्हें क्षमा कर दो क्योंकि इन्हें नहीं मालूम कि ये क्या कर रहे हैं?"—वह अपने बच्चों के लिए ईश्वर के प्रेम का प्रतीक है, किन्तु यह कहना कि उसका ईश्वर से कोई विशेष सम्बन्ध था जिसकी प्राप्ति दूसरों के लिए असम्भव है, एक ऐसी बात कहना है जिसका समर्थन करना कठिन है। और मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि संक्षिप्त 'सुसमाचारों' में इसका कोई प्रामाणिक साक्ष्य भी नहीं है। हाँ, ईसा के पूर्ववर्ती

तथा परवर्ती युगों के अन्य लोगों की भाँति उसके सम्बन्ध में भी कुछ कथायें प्रचलित हैं पर ऐसे महत्त्व के विषय में उनका मूल्य ही कितना! ईसा की पूर्व सत्ता एवं उसके मनुष्य रूप धारण करने का सिद्धान्त ईश्वर एवं मनुष्य में एक अप्रामाणिक भेद के पोषक हे जो यहूदियों के द्वैतवाद का स्मरण दिलाते हैं। ईसा का जीवन हमारे लिए निरर्थक होगा यदि उसमें कुछ ऐसे अपौरुषेय गुणों की सत्ता भी स्वीकार कर ली जाय जिनकी सहायता से वह पूर्णता तक पहुँच सका है। ईश्वर के पितृत्व में विश्वास हमें यह स्वीकार करने पर विवश करता है कि जो कार्य ईसा के लिए सम्भव हो सका है, वह दूसरों के लिए भी सम्भव है। ईश्वर की जो शक्ति उसे प्राप्त थी, हमारे लिए भी सुलभ है और यदि उसी की तरह हम भी प्रयत्नशील बन सकें तो हम भी अपने अन्तर्निहित परमात्मा का विकास कर सकते हैं। हम सभी ईश्वरीय गुणों से युक्त हैं तथा ईसा की ही भाँति उसके प्रेम को बिम्बित कर सकते हैं, यदि हम भी उसकी-सी दृढ़ ईश्वर-निष्ठा अपने में भर सकें। अधिक-से-अधिक ईसा को अनेक भाइयों में ज्येष्ठ* समझा जा सकता है। ईसा में ईश्वर की अभिव्यक्ति ठीक वैसी ही है जैसी संसार के अन्य महात्माओं में। जो देवत्त्व उसमें प्रगट हुआ है, वह बीजरूप से हम सबमें विद्यमान है। यह समझना कि ईसा को छोड़कर और किसी ने भी ईश्वर से उस तादात्म्य-भाव की अनुभूति नहीं की, शुद्ध भ्रम है। हिन्दू-धर्म के इतिहास में अनेक उदाहरण ऐसे साधु पुरुषों के भरे पड़े हैं जो स्वयं मुक्त हो गये थे, जिन्होंने 'मैं' तथा 'मेरे

* रोमन्स ८, ९२

पिता' की एकता का अनुभव कर लिया था, जिन्होंने दिव्य चक्षुओं से महान् ईश्वर का दर्शन किया था, केवल इन्द्रिय-जगत् के घोर अन्धकार के पटल को भेदकर कभी-कभी चमकनेवाली क्षणिक ज्योति-रेखाओं को ही नहीं; तथा वे सदा के लिए उसके आनन्द में निमग्न हो गये। हम जितना ही ईश्वर के समीप पहुँचते जाते हैं, उतना ही मनुष्य एवं ईश्वर के स्वरूप में एकरूपता बढ़ती जाती है और जो व्यक्ति, यदा-कदा नहीं, निरन्तर ब्रह्म में ही निवास करता है वह कह सकता है--'मैं वही हूँ।' ऋषियों एवं उपनिषदों के साक्ष्य की सत्यता को ईसा एवं संसार के अन्य प्रतिभाशाली साधु पुरुषों का अनुभव प्रमाणित करता है। धर्म पर बलि हो जाने-वाला अल हजाज़ कहता है—"मैं ही सत्य हूँ; मैं ही अपना प्रियतम हूँ; अपना प्रेमी भी मैं हूँ। हम एक ही शरीर में निवास करनेवाली दो आत्मायें हैं। जब तुम मुझे देखते हो तो तुम उसे देखते हो; और जब तुम उसे देखते हो तो तुम मुझे देखते हो।" तल्लीनता की उस दशा में मनुष्य की आत्मा एवं ईश्वर में कोई भेद नहीं रह जाता। जामी कहता है--"मैं और तू के लिए यहाँ अवकाश ही नहीं है; वे तो केवल मिथ्या एवं सारहीन कल्पनायें हैं।"*

ईसा की श्रद्धा और भक्ति में बहकर हम कह सकते हैं--ईसा में ईश्वर पूर्णरूप से व्यक्त हुआ है तथा इतिहास में उसका व्यक्तित्त्व अद्वितीय है। कभी-कभी बड़ी अनिच्छापूर्वक इतना स्वीकार किया जाता है कि कुछ अन्य महात्माओं में भी ईश्वर की ज्योति का स्पष्ट

* ब्राउन--फ़ारस का साहित्यिक इतिहास १, पृष्ठ ४३९

दर्शन हुआ है पर इतनी प्रभापूर्ण ज्योति और कभी और कहीं नहीं दिखाई पड़ी जितनी ईसा में। हो सकता है कि यह सच हो परन्तु यदि बुद्धि एवं कन्फ़्यूसस के अनुयायी अपने-अपने आदर्श पुरुषों के सम्बन्ध में ऐसा ही दावा करें तो हमें आपत्ति करने का कोई न्याय्य अधिकार नहीं। यदि यह कहा जाय कि बहुत बड़ी आध्यात्मिक अनुभूति ईसा की ईश्वरता तथा मध्यस्थता को प्रमाणित करती है तो इस प्रकार की अनुभूति का अभाव महान् मानवोद्धार-तत्पर महात्माओं में भी नहीं है। हिन्दुओं का विश्वास है कि प्रत्येक गुरु उद्धारक होता है क्योंकि वह अपने शिष्यों में ईश्वरीय जीवन को उत्तेजित करता है तथा उनमें उस अध्यात्म-बीज को विकसित करता है जो भविष्य में सफल हो सकता है। कोई भी पुरुष, जो मनुष्य की परिच्छिन्न इच्छा का ईश्वर की अपरिच्छिन्न इच्छा से पूर्ण सामंजस्य करा सके, हमारा उद्धारक हो सकता है। 'शैव सिद्धान्त' आदिक कुछ सम्प्रदायों में तो गुरु को ईश्वर ही समझा जाता है जो दया-परवश होकर मनुष्य को उन्नति-मार्ग में सहायता देने के लिए अवतरित हो जाता है। यह कहना ग़लत है कि ईसा की मध्यस्थता के बिना स्वर्ग नहीं पहुँचा जा सकता। यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि ईसा के जन्म से शताब्दियों पहले इब्राहीम स्वर्ग पहुँच चुका था।*

यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि पूर्ण मानवता के समस्त आदर्श गुण—सब दशाओं एवं सब कालों के लिए उपयुक्त—ईसा में एक साथ व्यक्त हो चुके हैं तथा वही अन्तिम हैं। पृथ्वी

* लूक १६, २४

पर कोई अभिव्यक्ति अन्तिम नहीं कहला सकती। ईश्वर ने कभी किसी विषय में भी अपना अन्तिम फ़ैसला नहीं दिया। उसे सदा ही इतनी अधिक बातें बताना शेष रह जाती हैं कि हम उन सबका भार सँभाल ही नहीं सकते।*

पश्चिम के ईसाई-धर्माचार्यों में अब एक अधिक विवेचनात्मक दृष्टिकोण जाग्रत् हो रहा है और वे ईसा की मानवता पर अधिक ज़ोर देने लगे हैं। उसकी सर्वज्ञता तथा सृष्टि-रचना-चेतना पर अब अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता। दूसरी ओर इस प्रकार के वाक्यों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है कि उसका 'ज्ञान बढ़ा', 'कष्ट झेलकर ईश्वर की आज्ञा का पालन करना सीखा', 'संकटों के द्वारा ही पूर्ण बना' और 'हमारी ही भाँति के प्रलोभनों में डाला गया।' वन-जीवन के घोर कष्ट ने उसे हमारा भाई बना दिया। वह भी हमारी ही भाँति ईश्वर के समीप अपनी दीनता का अनुभव करके कहता था—"तुम मुझे अच्छा क्यों कहते हो? अच्छा तो अकेला भगवान् है।" 'मेरा पिता मुझसे बड़ा है।'† उसके देवत्व के प्रमाण में चमत्कारों का उल्लेख नहीं किया जाता। विज्ञान उनमें से बहुतों को अविश्वास की दृष्टि से देखता है। मानसिक चिकित्सा ने कुछ की व्याख्या भी की है। ईसा ने स्वयं अपना देवत्व प्रमाणित करने के लिए कभी चमत्कार नहीं दिखाये। उसका तो कथन है कि दूसरे लोग भी ऐसे चमत्कार कर सकते हैं। "यदि मैं शैतान की सहायता से प्रेत-बाधा से मुक्ति देता हूँ

* जान १६, १२

† मार्क १०, १८; जान १४, २८

तो तुम्हारे बच्चे किसकी सहायता से यह काम करते हैं?"* ईसा के साक्ष्य, दार्शनिक सत्य एवं धार्मिक अनुभूति सबका एक स्वर से अनुरोध है कि अन्य भगवद्भक्त साधुओं के ही समान उसे भी समझना चाहिए क्योंकि ईश्वर ने प्रत्येक देश और युग में अपने साक्षियों को भेजा है।

(३)

मनुष्य ईश्वर के अनुरूप बनाया गया है अतः वह स्वभावतः दुष्ट नहीं होता। जैसा हम उसे पाते हैं वह निस्सन्देह अनेक बाधाओं से घिरा हुआ है। उसकी दुर्बलतायें स्वभावसिद्ध नहीं हैं वरन् स्वतंत्रता के दुरुपयोग का परिणाम हैं। यहूदी कहानी कि मनुष्य ने किस प्रकार सर्वप्रथम परमात्मा की आज्ञा का उल्लंघन करके ज्ञानवृक्ष का फल चखा जिसके फलस्वरूप संसार में संकट एवं मृत्यु का आविर्भाव हुआ, इस हिन्दू-मत को पुष्ट करती है कि मूढ़ता तथा पापाचरण के कारण उत्पन्न होनेवाले दुःख, कष्ट मनुष्य स्वयं रचता है यद्यपि हमें स्वतंत्रता देते समय ईश्वर ने उनकी भी आयोजना कर दी थी। ईश्वर का सम्बन्ध हमारे साथ ठीक वैसा ही नहीं है, जैसा कुम्हार का मिट्टी के साथ होता है। उसने तो हमें अपने भाग्य का निर्माण करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता दे रखी है, परन्तु मनुष्य ने अपने झूठे, अनित्य रूप को ही चाहा और वह अपने सच्चे स्वरूप ईश्वर से दूर भागता रहा। फलतः पाप

* लूक ६, १६

का उदय हुआ। फिर भी यह पापाचरण हमारे अमरत्त्व को, जिस पर हमारा वंशक्रमागत स्वत्त्व है, छीन नहीं सकता, वह उसे केवल कुछ समय के लिए टाल सकता है।

वह सिद्धान्त, जो मनुष्य को स्वभावतः पापी समझता है, मुझे भय है, सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। हमारी प्रकृति तो दैवी है। जो पुरुष भी संसार में आता है वह ईश्वरीय ज्योति से युक्त रहता है। "यदि मैं तुममें न होता तो तुम हमारी खोज नहीं कर सकते थे।" गेटे का कहना है—"यदि आँखें स्वयं सूर्य न होतीं तो उन्हें सूर्य-प्रकाश का ज्ञान ही कभी न होता। यदि हमारा हृदय दिव्य न होता तो किसी भी दिव्य वस्तु की ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी।"

इस दृष्टि से पाप-वृत्ति-त्याग किसी नवीन वृति का आविर्भाव नहीं है। यद्यपि यह पूर्व जीवन-पद्धति में आकस्मिक विपर्यय अवश्य है। मुक्ति अपने भीतर के देवत्त्व के क्रमिक विकास का परिणाम है, ईश्वरीय करुणा का फल नहीं। मुक्ति-क्रिया के आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी आत्मा के विकास में परमात्मा बाहर की अपेक्षा उसके भीतर से ही अधिक काम करता है। दया एवं विकास एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं, यद्यपि पहले में एक प्रकार के आध्यात्मिक चमत्कार अथवा शान्ति का-सा संकेत मिलता है और दूसरे में ईश्वर तथा मनुष्य की अविच्छिन्न एकता की सूचना निहित है।

अपने पैतृक देवत्त्व की प्राप्ति के लिए मनुष्य के लिए तीन प्रकार की साधना का निर्देश किया गया है जो चेतन-जीवन के तीनों अंगों के अनुरूप है। उपनिषत्काल में ईश्वर को प्रधानतः

नित्य सत्य अथवा प्रकाश समझा जाता था और मनुष्यों को बताया गया था कि ईश्वर-साक्षात्कार के लिए उन्हें श्रद्धा एवं ज्ञान का मार्ग ही अपनाना चाहिए। भगवद्गीता के युग में ईश्वर का प्रेमरूप प्रबल हो जाता है और मुक्ति का मुख्य साधन भक्ति बन जाता है। बौद्ध एवं शैव प्राचीन यहूदियों की भाँति ईश्वर को शाश्वत न्यायाधीश समझने लगे और तप अथवा कठोर सरलता एवं आत्म-विसर्जन का जीवन प्रमुख बन गया। ज्ञान, भक्ति तथा तप में से कोई भी हमारे सम्पूर्ण जीवन को शुद्ध कर देने में समर्थ है।

इस प्रकार जब हम मन, हृदय एवं इच्छा को आभ्यन्तरिक नूतनता प्रदान करते हैं, जब हम स्वार्थ-भावना का परित्यागकर देते हैं तो हमें उस आत्मा का दर्शन होता है जिसका स्वर अवैयक्तिक सार्वभौमिक कल्याण के स्वर से मिला रहता है। यही "मुक्त होना" है। मुक्ति धर्म-परिवर्तन से नहीं, आत्म-शुद्धि से प्राप्त होती है। स्वर्ग तो मानव-दृष्टिकोण का नाम है। मुक्ति उस आमूल परिवर्तन का नाम है जो आत्मा को दिव्य गुणों से पूर्ण कर दे। उसके वास्तविक स्वरूप का अनुवाद हम अपने शब्दों में नहीं कर सकते क्योंकि वे मानवी अनुभूति के आधार पर ही बनाये गये हैं। भावी ऐश्वर्य को हम पूर्णतः नहीं जान सकते। यदि इस अमर जीवन के स्वरूप का काल तथा न्याय की भाषा में वर्णन करना आवश्यक हो जाय तो हम कह सकते हैं कि वह व्यक्तिगत आत्मा का परमात्मा में पर्यवसान हो जाना है; स्थूलरूप में वह ब्रह्मलोक की नागरिकता है जहाँ से भौतिक जगत् में फिर पतन होने की कोई सम्भावना नहीं। शंकराचार्य ने ब्रह्म के साथ व्यक्ति की इस ऐक्यानुभूति का वर्णन करना असम्भव बताया

है और कहा है कि यदि उसको व्यक्त करना नितान्त आवश्यक हो तो यही कहना चाहिए कि वह जीवन ब्रह्मनगर में निवास करना है। पर रामानुज का विश्वास है कि उससे उच्चतर कुछ भी सत्य अथवा बुद्धिग्राह्य नहीं है।

स्वर्ग में पहुँचकर ईसा ने कहा है—"अपने देव-मन्दिर में मैं उसे स्तम्भ बना दूंगा और उसका फिर आवागमन नहीं होगा।"* 'उसका फिर आवागमन नहीं होगा' ये शब्द हिन्दू-धर्म के उस सिद्धान्त से बिलकुल मिलते हैं जिसका कहना है कि मुक्त आत्मा फिर संसार में कष्ट उठाने नहीं आती—न पुनरावृत्तिः। मुक्त आत्मा के लक्षण हिन्दू एवं ईसाई मत में समान ही हैं। मुक्ति का फल ज्ञान, प्रेम तथा आनन्द है। मुक्त पुरुष को संसार के मंगलमय होने में दृढ़ विश्वास होता है, अतः वह दुराग्रहों अथवा सिद्धान्तों के झंझावात से क्षुब्ध नहीं होता। उसमें वह सच्चा प्रेम अथवा आन्तरिक भ्रातृभाव जग जाता है जो केवल शत्रुओं को ही क्षमा नहीं करता प्रत्युत् मानवता की निश्चित सेवा भी करता है। ऐसा कोई महान् धार्मिक नेता नहीं हुआ जिसने प्रेम के सिद्धान्त की महत्ता को स्वीकार न किया हो। उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा है। बुद्ध का आदेश है कि जो तुमसे घृणा करे, तुम्हें उसका कल्याण करना चाहिए। बाइबिल की "बहिर्गमन" (एक्सोडस) नामक पुस्तिका में लिखा है—"यदि तुम्हें शत्रु का बैल अथवा गधा मिले तो तुम्हें अवश्य उसे वापस लाकर उसके स्वामी के पास पहुँचा देना चाहिए।" 'वंश वर्णन' के पैंतालीसवें अध्याय से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि प्राचीन लोग उदार

* दिव्य दर्शन (रेवेलेशन) ३, १२

पुरुष की कितनी श्रद्धा करते थे। उस परमोत्कृष्ट स्थल को देखिए जिसमें जोज़ेफ़ अपने भाइयों को क्षमा करता है। रोमान्स को पत्र लिखते समय 'पाल' 'लोकोक्तियों की पुस्तक' का उल्लेख करता है—"यदि तुम्हारा शत्रु भूखा हो तो उसे खाना खिलाओ; अगर वह प्यासा हो तो उसे पानी पिलाओ।" ईसा के विषय में लिखा है—"जब लोगों ने उसे गालियाँ दीं तो उसने गालियाँ नहीं दीं; जब उसे कष्ट दिया गया तो उसने बदला नहीं लिया।"* मुक्त पुरुष के पास केवल ज्ञान तथा प्रेम ही नहीं होता वरन् उसके पास तो वह शान्ति भी होती है जो मनुष्यों एवं परिस्थितियों की शक्ति से परे होती है और जिसका वर्णन हिन्दू किया करते हैं। यही वह आनन्द है जिसकी ओर ईसा ने संकेत किया था, जब उन्होंने कहा था—"अपना आनन्द मैं तुम्हें देता हूँ और तुम्हारा आनन्द तुमसे कोई नहीं छीनता।"

यदि अपने त्याग से दूसरों के पापों का प्रायश्चित्त करने के सिद्धान्त को हम न मानें, यदि हम इस बात में विश्वास न करें कि ईसा के बलिदान के फलस्वरूप ईश्वर ने मनुष्यों को फिर से अपना लिया तो हिन्दू-धर्म एवं ईसाई-धर्म में मुक्ति के स्वरूप तथा साधन के सम्बन्ध में आपाततः महत्त्व का भेद नहीं रह जाता। यह बात तो निर्विवाद है कि सभी साधुओं की तरह ईसा भी किसी हद तक हमें पापों से बचाकर ईश्वर की ओर ले जाता है, किन्तु ईसा का बलिदान लोगों के पापों का प्रायश्चित्त करे, यह अनर्गल बात है। ईसा हमारा उद्धारक है, क्योंकि अपने जीवन में वह हमें उस ईश्वर-प्रेम का

* पीटर २, २३

प्रमाण देता है जो सभी संकटों एवं दुर्घटनाओं में हमारा उत्साहवर्द्धन करेगा। वह हमें इस बात का निश्चय करा देता है कि संसार, शारीरिक वासना एवं शैतान पर विजय प्राप्त करके हम पूर्ण बन सकते हैं। रिट्शी ने ठीक ही कहा है—"उसके जीवन का वास्तविक सत्य, जो हम पर प्रकट होता है, यही है कि जिस मार्ग का दर्शन उसने हमें कराया तथा जो उत्साह उसने हममें भर दिया है, उससे यह सम्भव हो गया है कि उसी की तरह हम भी ईश्वर तथा संसार से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकें।"*

(४)

कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त, जो हिन्दू-धर्म की विशेषता है, स्पष्टतः अधिकांश ईसाई-विद्वानों को नापसन्द है। मुझे भय है कि इस सम्बन्ध में उन्हें मिथ्या-प्रचार का शिकार होना पड़ा है। मोक्ष अथवा तल्लीनता तब तक सम्भव नहीं जब तक वे अपने संकीर्ण व्यक्तित्व से चिपटे हैं। जब तक इस भेद-प्रवृत्ति का आमूल विनाश नहीं होता, ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति नहीं हो सकती। जब तक हम समय पर विजय प्राप्त करके पूर्ण नहीं बन जाते, हम इसी संसार के, आवागमन के, चक्कर में पड़े रहेंगे। यह मत उतना उपाहासास्पद नहीं है, जितना इसे सामान्यतः बताया जाता है। यदि मोक्ष संसार से परे की स्थिति है तो जब तक हम संसार से चिपटे रहेंगे, काल में ही सीमित रहेंगे,

* समर्थन तथा सन्धि (जस्टीफ़िकेशन तथा रिकन्सीलियेशन), पृष्ठ ३८७

तब तक हम उस अमरता को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। जब तक हम वैयक्तिक दृष्टिकोण से ऊपर उठकर सार्वलौकिक दृष्टिकोण को नहीं अपनाते तब तक हम सत्य तक नहीं पहुँच सकते। वैयक्तिक दृष्टि बनाये रखकर सार्वलौकिक दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता। नैतिक विकास का यही लक्षण है। उसका आधार व्यक्ति होता है जिसकी अपनी योजनाएँ, अपने उद्देश्य एवं अपनी रुचि होती है तथा जो इसी प्रकार के अन्य लोगों से घिरा होता है। नैतिक प्रयास के द्वारा व्यक्ति अपने लक्ष्य के समीप पहुंच सकता है परन्तु उसकी प्राप्ति कभी नहीं कर सकता। संसार वैयक्तिक नैतिकता का लोक है जिसका सिद्धान्त अनन्त विकास है, पूर्ण सफलता की सच्ची अनुभूति नहीं। कान्ट के नीतिशास्त्र में एक बड़ी ही उपदेशपूर्ण उपमा दी गई है। धर्म नियम का अनुरोध है कि मानव-प्रकृति के भावनामूलक अंश का पूर्ण निरोध कर दिया जाय। हमारे वर्तमान अनुभव में ऐसा होना असम्भव है अतः इसकी पूर्ति के लिए वह अनन्त भविष्य की कल्पना करता है। परन्तु कान्ट भूल जाता है कि असम्भव कार्य के लिए अनन्त काल भी अपर्याप्त ही सिद्ध होगा। परिच्छिन्नकर्ता अनवच्छिन्न पूर्णता की उपलब्धि कभी नहीं कर सकता, भले ही वह अनन्त काल तक मरता-खपता रहे। कान्ट का अनुरोध असंगत है। परिच्छिन्नता अथवा ससीमता की भावना को मिटा देना ही एक उपाय है। तभी हम परिच्छिन्नता के अनन्त विकास से, जिससे कोई सन्तोष नहीं मिल सकता, अपनी रक्षा कर सकते हैं। जब तक हम सांसारिक दृष्टिकोण का परित्याग नहीं करते, शृंखला को काटकर इन्द्रिय-जगत् से ऊपर अपने को नहीं उठाते, देश-काल के व्यक्तित्व से ऊपर नहीं उठ

जाते, मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं। यदि हम केवल नैतिकता की भेद-बुद्धि के ऊपर उठकर धार्मिक स्तर पर पहुँच सकें तो यहीं पर, इसी समय, अनन्त जीवन को प्राप्त कर सकते हैं।

संसार में सर्वत्र कर्म-नियम पाया जाता है। यह धर्म के कभी नाश न होने का नियम है, जिसके होने से श्रम तथा कष्ट उठाकर हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह हमारे लिए सुरक्षित रहता है तथा हम जिस चरित्र का निर्माण करते हैं, वह संचित रहता है जिससे हमें पुराना रास्ता फिर न चलना पड़े और हम सदा आगे की ओर, ऊपर की ओर, अपनी दृष्टि रख सकें। कर्म-नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को, जब तक वह अपने निश्चित लक्ष्य तक नहीं पहुँचता, बराबर अवसर मिलेगा। यदि ईश्वर प्रेम है तो कोई भी सदा के लिए पथ-भ्रष्ट नहीं रह सकता। ईश्वर इस रक्षा के कर्म में तब तक बराबर लगा रहेगा जब तक प्रत्येक व्यक्ति के लिए ईश्वर द्वारा निर्धारित उद्देश्य की समाप्ति नहीं होती। मनुष्यकृत पाप उसके अमरत्व को ढक सकता है, उसका विनाश नहीं कर सकता। ईश्वर का प्रेम नीच-से-नीच पापी को भी उससे बिलकुल पराङ्मुख नहीं होने देता। यदि मृत्यु ही हमारा अवसान होता तो जिस उद्देश्य से ईश्वर ने हमारी सृष्टि की है, वह विफल हो जाता, क्योंकि हममें से अधिकतर लोग पापी दशा में ही बिना पश्चात्ताप किये ही मर जाते हैं। यदि हम ईश्वर के उद्देश्य की विफलता नहीं स्वीकार करते--जिसके मान लेने से ईश्वर के स्वरूप में बहुत बड़ी परिच्छिन्नता को स्वीकार करना होगा--तो मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक आत्मा को, आत्म-विकास के लिए तथा अपने में ही ईश्वर को अभिव्यक्त करने के लिए उचित अवसर मिलना चाहिए। उस दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा, जिसने अधिकतर मनुष्यों के लिए नरक

की रचना कर रखी है एवं जिसका ईसाई-जगत् में बड़ा मान है, यह मत ईश्वर के प्रेम तथा न्याय को ध्यान में रखते हुए अधिक सुसंगत प्रतीत होता है। ईश्वर के प्रेमरूप की सत्यता को अधिक अनुभव करने पर ईसाई-विद्वान् भी मृत्यु के पश्चात्वाले विकास को मान लेंगे।

यह मानकर कि ईश्वर अपने दुराचारी पुत्रों का विनाश कर देता है, हम ईश्वर में उस बर्बर प्रवृत्ति का आरोप कर देते हैं जिसका शोध सभ्य मनुष्यों ने भी कर लिया है। यदि ईसा छोट-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लेकर अपने श्रोताओं से कहता था कि ईश्वर को प्रसन्न करने का एक ही उपाय है कि तुम भी इन्हीं की तरह बन जाओ तो हमारा यह व्यवहार कितना क्रूर होगा कि स्वर्ग के इन नागरिकों को हम नरक की ज्वाला में फेंक दें।

सन्त पाल के कथनानुसार —"ईश्वर के पुत्रों की अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा में·········समस्त सृष्टि वेदना-विह्वल होकर दुःख भरी सिसकियाँ ले रही है।" अगर कुछ पुरुष अपने को ईश्वर के पुत्ररूप में अभिव्यक्त करने से सदा के लिए वंचित कर दिये गये हैं तो ईश्वर-निर्धारित संसार की आदर्श परिणति भंग हो चुकी है। ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुरोध है कि हम यह विश्वास करें कि कोई भी अनन्त काल तक नरक में ही सड़ते रहने के योग्य नहीं है। वह कितना ही क्यों न भटक जाय, ऐसा नहीं हो सकता कि उसका उद्धार एकान्त असम्भव हो जाय। अपने पाप, मूर्खता एवं स्वार्थपरायणता से कोई अपने देवत्व को कितना ही क्यों न ढक ले, उसे सर्वथा दूर कर देने की शक्ति उसमें नहीं है। केवल निस्सहाय शान्त जीव, वह व्यक्ति जिसका आधार अनन्त परमात्मा नहीं है, दूसरे शब्दों में केवल वह

मनुष्य ही जिसकी रचना ईश्वर ने न की हो, ऐसा कूड़ा हो सकता है जो नरक की ज्वाला में फेंके जाने के योग्य है, वह व्यक्ति नहीं जो मनुष्य की दिव्य आकृति से सम्पन्न है। जीवन में वह कितना ही घोर पाप क्यों न करे, उसकी अमरता नष्ट नहीं हो सकती। जूडस के घृणित आवरण के नीचे बीजरूप में दिव्य शक्ति को धारण किये किसी ईसा की मुद्रा छिपी है। सन्त पाल का कहना है—"लोगों के हृदय पर एक परदा पड़ा है, किन्तु जैसे ही कोई पुरुष ईश्वर की ओर बढ़ेगा, उसका आवरण हट जायगा।" 'जैसे ही कोई पुरुष ईश्वर की ओर बढ़ेगा' इन शब्दों पर ध्यान दीजिए। इसका अर्थ है कि व्यक्ति के इतिहास में किसी-न-किसी समय इस जीवन में अथवा इसके बादवाले जीवन में, जभी वह आत्मग्लानि का अनुभव करेगा, उसे उद्धार का मौक़ा अवश्य मिलेगा। हिन्दुओं की दृष्टि में 'डाइवज्' का दृष्टान्त पराकाष्ठा के दुःख की कथा है।* आत्मग्लानि से भरकर वह एक छोटे-से अनुग्रह की, सो भी अपने लिए नहीं, याचना करता है पर ईश्वर उसकी प्रार्थना पर ध्यान ही नहीं देता क्योंकि नरक में पड़े हुए व्यक्ति के लिए मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं। मर चुकने के बाद, ऐसा प्रतीत होता है, मनुष्य के भाग्य का निर्णय सदा के लिए हो जाता है। यदि हम यह भी मान लें कि ईश्वर प्रेम नहीं है, वह कठोर न्याय ही है तथा अन्याय पर उसे घोर क्रोध आता है तो भी डाइवज् के साथ जो व्यवहार किया गया है वह न्याययुक्त नहीं है। यदि इस जीवन में किसी ने अपनी त्रुटियों के लिए पश्चात्ताप नहीं किया तो इसके लिए हम उसे अनन्त काल तक तो दण्ड नहीं दे सकते। 'पुरानी धर्म

* लूक १६, १९-३१

पुस्तक' भी ईश्वर के केवल-न्याय-रूप के ऊपर उठ गई है। कुछ महात्माओं एवं भजन-लेखकों के विचार अधिक विशाल हैं। "परमात्मा दयालु एवं क्षमाशील है; वह देर में क्रुद्ध होता है पर कृपा करने में बड़ा उदार रहता है।"* ऐसे ईश्वर से, जो क्षमा करने को सदा तैयार रहता है तथा पापी को भी फिर से शरण में ले सकता है, डाइवज् का भला हो सकता है। ईसा के ईश्वर से वह कितनी अधिक आशा कर सकता है जो अपव्ययी पुत्र के स्वागत की प्रतीक्षा में बैठा पिता ही नहीं है वरन् वह गड़रिया भी है जो पहाड़ों में भटकी हुई भेड़ों की खोज भी करता है। यदि ईश्वर पापियों को खोजकर सीधे मार्ग पर लाता है तो डाइवज् का पश्चात्ताप उसकी प्रसन्नता का विषय होगा। यदि ईश्वर में कल्पनातीत दया है, यदि वह हमारे विचारों से बढ़कर, हमारी इच्छा से अधिक, कृपालु है तो क्या ऐसे भविष्य की आशा करना, जिसमें डाइवज्-जैसी आत्माएँ अपना विकास कर सकें, इतनी बड़ी दुराशा है कि वह सत्य न हो सके? यदि पापी होकर भी तुम अपने बच्चों को सुन्दर उपहार देना जानते हो तो स्वर्ग में रहनेवाले तुम्हारा पिता माँगने पर तुम्हें कितना अधिक नहीं दे सकता।† यदि यह सत्य है कि जितनी क्षमा हमने पाई है, उतनी क्षमा हम स्वयं दूसरों को दे नहीं सकते तो क्या यह मानना ठीक होगा कि परमात्मा बिना बदला लिये नहीं मान सकता? विकास के लिए अनन्त भविष्य निर्बाध पड़ा है।

यह कहने के अलावा कि परमात्मा ज़िदा लोगों का ईश्वर है

* भजन १०३, ८

† मैथ्यू ७, ११

मुरदों का नहीं, ईसा ने और कोई वणन भविष्य-जीवन का नहीं किया। भेड़ों तथा बकरियों, डाइवज् तथा लेज़रस आदिक दृष्टान्त-कथाओं म जो संकेत पाये जाते हैं वे उस युग के स्वर्ग एवं नरक सम्बन्धी उन विचारों से प्रभावित हैं जो उन्हें देश विशेष समझकर आनन्द तथा दुःख से भरा मानते थे, अतएव वे वर्तमान प्रश्न से असम्बद्ध हैं। इतना स्पष्ट है कि मृत्यु और न्याय में बहुत अधिक काल का अन्तर वह नहीं मानता था क्योंकि धनी अतिभक्षक तथा लेज़रस को प्राय: मृत्यु के अनन्तर ही दण्ड मिल गया था। पश्चात्ताप करनेवाले चोर को ईसा धोखा नहीं दे रहा था, जब उसने कहा था--"आज तुम हमारे साथ स्वर्ग चलोगे।"* ईसा के इन कथनों से इस शास्त्रमत का समर्थन नहीं होता कि मरने के बाद मृत पुरुष अपने भौतिक शरीर के साथ न्याय के लिए उठेंगे। उस साम्प्रदायिक मत को मानने पर यह जानना कठिन है कि मृत्यु एवं न्याय के बीच के काल में असंख्य मृत पुरुषों पर कैसी बीतती है। ईसा के चरित्र एवं शिक्षा के अनुकूल स्वर्ग तथा नरक की केवल यही व्याख्या हो सकती है कि उनका संकेत मानसिक परिवर्तन की ओर है। स्वर्ग आत्मा की उन्नति का प्रतीक है और नरक उसके विपरीत। और स्वर्ग में नरक की ही भाँति कई स्तर हैं, भगवान् के राज्य में अनेक राजप्रासाद हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने विश्वास की दृढ़ता एवं संचित पुण्य के अनुसार उपयुक्त स्थान पर पहुँचेगा। यही वह पद्धति है जिसमें भगवान् का न्याय चलता है--यही कर्म-नियम का सिद्धान्त है। जिस भाँति कोई व्यक्ति प्राप्त अवसर का उपयोग करेगा वैसी ही उसकी गति होगी एवं उसके उपयोग

* लूक २३, १, ४३

के प्रकार एवं विस्तार पर उसकी उन्नति का स्तर निर्भर होगा। उसके कथनों से इस बात का साफ़ पता चलता है कि ईसा को आध्यात्मिक जीवन की निरन्तरता का, मृत्यु के पश्चात् भी उसकी सत्ता का, ज्ञान था। उसे पता है कि न्याय के दिन लोगों को प्रत्येक असावधानी अथवा लापरवाही के साथ कहे हुए शब्द का उत्तर देना होगा। स्नेह एवं करुणा से प्रेरित हमारे सब क्षुद्र कर्मों का—'मैं भूखा था और तुमने मुझे खाने को दिया था'—काफ़ी महत्त्वपूर्ण परिणाम होगा।

मनुष्य के व्यक्तित्व-विकास का जितना कुछ ज्ञान हो सका है, यह सिद्धान्त उसके अनुकूल है। पूर्णतः अथवा पवित्रता की प्राप्ति एक क्रमिक नैतिक क्रिया का परिणाम है, आकस्मिक घटना नहीं। साधारणतः आत्म-विकास की क्रिया बराबर जारी रहती है; उसकी सीमा कहाँ होगी, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है। प्रगति एवं विकास ही व्यक्तित्व का नियम है और इसके लिए समय तथा अवसर दोनों ही आवश्यक हैं। कर्म-नियम एक विशाल क्षेत्र है, जिसमें आत्म-विकास के लिए पर्याप्त अवकाश होगा।

यह नियम इस बात पर ठीक ही जोर देता है कि हमारा समस्त आचरण ही हमारे भविष्य का निर्णय करता है। बपतिस्मा-जैसी एक अकेली घटना मनुष्य के भाग्य का निर्णय नहीं कर सकती। यदि अन्य परिस्थितियाँ समान हैं तो बपतिस्मा लेकर शीघ्र ही मर जाने वाला बच्चा तथा बिना बपतिस्मा के ही चल बसनेवाला शिशु प्रायः एक समान ही भविष्य के अधिकारी होंगे। यह जान कर ईसा को महान् खेद होगा कि उसके प्रेम-सन्देश के अनुसार श्रद्धा में प्रमाद के कारण, दूसरे धर्म में उत्पन्न हो जाने की दुर्घटना के कारण अथवा किसी चमत्कारपूर्ण संस्कार के अभाव के कारण किसी

को भी अनन्त काल तक नरक-यातना भोगनी होगी। उसका भाग्य तो उस आध्यात्मिक विकास पर निर्भर होगा, जिसके प्रयास में उसे सफलता अथवा असफलता मिली है।

कर्म-नियम के विरुद्ध यह कहा गया है कि वह बहुत कुछ अचेतन यंत्र से मिलता-जुलता है और ईश्वर के प्रेम के साथ उसका ठीक मेल नहीं खाता। हिन्दू-शास्त्र ईश्वर की उस कल्पना को बिलकुल पसन्द नहीं करता जो उसे निरंकुश बताती है और यह मानती है कि वह जब चाहता है तो किसी को पापी तथा किसी को साधु बनाकर निसर्ग-नियम में हस्तक्षेप किया करता है। यह कहना कि ईश्वर का प्रेम नैतिक आचरण से विरुद्ध नहीं होता, कालविन के सिद्धान्त को मान लेना है जो मनमाने अविचारपूर्ण धर्म-नियमों का उपदेश किया करता था और कहता था कि ईसा के भक्त कुछ भी क्यों न करें, सद्गति पावेंगे तथा जो उसके भक्त नहीं हैं वे कुछ भी क्यों न करें नरक में पड़ेंगे ही। लोगों के आचरण की उपेक्षा करना ईश्वर के लिए सम्भव नहीं है, यद्यपि उसका प्रेम इतना विशाल है कि जो व्यक्ति भी ठीक दिशा में क़दम उठाता है, उसकी सहायता किये बिना वह नहीं रह सकता। आध्यात्म-जगत् के नियमों का अनुरोध है कि पश्चात्ताप के बाद पापों के लिए क्षमा मिल जाना चाहिए तथा पूर्ण आत्म-समर्पण के पश्चात् ईश्वर की दया होनी ही चाहिए। धर्म-नियम तो ईश्वर का प्राण ही है अतः यह आवश्यक है कि हमारे भावी अनुभव हमारे कर्मों की नैतिकता पर आधारित रहें। ईश्वर की दृढता और उसके प्रेम में कोई विरोध नहीं है। ईश्वर की सर्वव्यापकता का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर का न्याय कहीं बाहर से नहीं आता; वह तो भीतर से ही प्रेरित होता है। हम अपने कर्मों के ही द्वारा उठते अथवा गिरते हैं। ईश्वर के नियमों

से छूटना सम्भव नहीं; वे हमारे हाथ और पैरों से भी अधिक समीप हैं और वास्तव में हम सबका मूल हैं। कर्म-नियम का अर्थ यह है कि जो ईश्वर-प्रणीत नियमों का उल्लंघन करेंगे वे उस उल्लंघन के फलस्वरूप अवश्य दुःख भोगेंगे यद्यपि पश्चात्ताप एवं सुधार की सम्भावना प्रत्येक स्थिति में रहेगी।

हिन्दुओं के इस कर्म-नियम को यांत्रिक मानकर—क्योंकि इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का पूरा फल भोगना पड़ता है—जो लोग इसकी निन्दा करते हैं, वे एक अनोखे ढंग से उससे बुरे इस नियम को स्वीकार कर लेते हैं कि पापी के अतिरिक्त किसी दूसरे के उन पापों का फल भोग लेने से काम चल जाता है। ठीक हो चाहे ग़लत, यह बात तो समझ में आती है कि कोई मनुष्य किसी दूसरे के पाप का फल भोगे पर क्या तब स्थिति यदि घृणित नहीं तो कम-से-कम लोक-विरुद्ध नहीं हो जाती जब पापी परम सन्तोष के साथ यह निश्चय कर लेता है कि उसके पापों का दंड दूसरा भोगे; यह सिद्धान्त विचार-हीन पुरुषों को इस धोखे में डाले रहता है कि वे जितना चाहें पाप करते रहें क्योंकि किसी-न-किसी दिन ईश्वर एक दूत अथवा अपने पुत्र को अवश्य भेज देगा जो सबके पापों का दंड भोग लेगा। रूढ़िवादी ईसाई-मत ईसा के कष्ट एवं मृत्यु को जिस रूप म देखता है, वह तभी सम्भव हो सकता है जब हम ईश्वर को एक सुन्दर तराजू मान लें। हिन्दू-मत में ईश्वर का प्रेम तथा मनुष्य का यत्न दोनों ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक माने गये हैं।

यह प्रसिद्ध ही है कि कर्म-नियम की उद्भावना मनुष्यों की विषमता को समझाने के लिए की गई है। अनुभव से ज्ञात होता है कि सब मनुष्य बुद्धि अथवा वाह्य परिस्थितियों में समान नहीं होते। मानवात्मा के

निर्माण में वंश-परम्परा तथा वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि कालविन की ही भाँति हम भी विश्वास करते हैं कि संसार का नियन्ता कोई स्नेहशील, विचारवान् व्यक्ति है तो हमें मानना ही पड़ेगा कि यह विषमता आकस्मिक, केवल घटनाजात, नहीं है। यहाँ तक तो हिन्दू समझ सकता है; किन्तु जब कालविन इस निर्वाचन अथवा चयन के सिद्धान्त को सामने रखता है कि ईश्वर की स्वच्छन्द इच्छा ने किसी को स्वर्ग तथा किसी को नरक के लिए चुन रखा है तो हिन्दू उसके नेतृत्व को सन्देह की दृष्टि से देखता है और यह जानना चाहता है कि क्या इससे अधिक संयुक्तिक समाधान नहीं हो सकता। ईश्वर तथा मनुष्य के बीच ऐसे जड़-सम्बन्ध को मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं। कर्म का सिद्धान्त इस गुणवैचित्र्य को परमात्मा की संयत इच्छा पर आधारित मानता है। ईश्वर के स्वरूप में किसी सर्वथा विचारहीन तत्त्व का समावेश करने के लिए हिन्दू तैयार नहीं। उसका विश्वास है कि एक ही वर्द्धमान उद्देश्य विश्व भर के विकास में अभिव्यक्त हो रहा है और यदि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक सुगमतापूर्वक ईश्वर के कृपापात्र बन सकते हैं तो केवल इसीलिए कि पहले जन्म में वे काफ़ी प्रयास कर चुके हैं। सन्त पाल का कथन है—"आदमी जो बोता है वही काटता भी है।" कर्म-नियम इस बात को मान लेता है तथा थोड़ा और आगे बढ़कर कहता है—"जो कुछ भी आदमी काटता है उसे उसने अवश्य बोया होगा।" मेरा ख़्याल है कि ईसा को इस व्यापक संकेत का ज्ञान था। पक्षाघात के रोगी से जब उसने कहा था—"पुत्र, हिम्मत बाँधो, तुम्हारे पाप क्षमा कर दिये गये हैं" तो उसका यही अभिप्राय था कि उसकी पीड़ा उसके पूर्व पापों का परिणाम थी। हो सकता है कि पापी उन्हें भूल गया हो पर ईश्वर नहीं

भूला। उसके पापों के परिणाम उसके व्यक्तित्व की गम्भीरता में छिपे पड़े थे। आधुनिक मनोविज्ञान का कहना है कि हमारे पूर्व कर्म अचेतन मन में संग्रहीत रहते हैं। ईसा ने कर्म-नियम-जैसे सिद्धान्त की कल्पना करके रोगी से कहा था—"अब पाप न करना नहीं तो इससे बुरी दशा तुम्हारी हो सकती है।" (सन्त जान ५, १४)। हमारी विपत्तियाँ किसी न्यायाधीश की मनमानी आज्ञा नहीं हैं जो हम पर लाद दी जायँ, भले ही हम उसके अधिकारी न हों। हमारी इच्छा के विरुद्ध भी जो विपत्ति हमारे गले मढ़ दी जाती है, वह हमारे ही पूर्व पापों का पारिश्रमिक है। हम उसे सम्मान अथवा गर्व का विषय नहीं समझ सकते। यदि ऐसा होता तो नरक-यातना भोगनेवालों के लिए लजाने की बात ही कौन-सी थी। ईसा विपत्ति की यही उपयोगिता समझता था कि वह हमें पाप से रोके तथा धर्म में प्रोत्साहित करे।

स्वेच्छापूर्वक जो कष्ट उठाया जाता है उस पर उपर्युक्त कथन नहीं घटित होता। वह कष्ट तो आत्म-शुद्धि के लिए तब तक उठाया जाता है जब तक हमें अमर जीवन की प्राप्ति न हो जाय। जब हम पूर्ण हो जाते हैं तो हम भी ईश्वर के निरपेक्ष भावों के सृजन एवं रक्षण में सहायक हो जाते हैं। उसके उपरान्त सभी कष्ट स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया जाता है यद्यपि वह कष्ट सामान्य कष्ट से सर्वथा भिन्न होता है। मानव-जाति की रक्षा के लिए शिव ने विषपान किया था। महायान सम्प्रदाय के अनुसार बुद्ध ने मनुष्यों के कल्याण के लिए निर्वाणपद को त्याग दिया था। पूर्व पाप के दण्डरूप तथा उसी प्रकार के प्रतीत होनेवाले, महात्माओं द्वारा स्वेच्छा से अंगीकृत कष्ट के अलावा एक तीसरे प्रकार का कष्ट भी होता है जिसे हिन्दू-शास्त्रों में तप कहा गया है। तप उस कष्ट को कहते हैं जो मुक्ति-पथ के पथिक

आत्म-विकास अथवा विश्व-कल्याण के लिए स्वतः अपने ऊपर ले लेते हैं। यह बड़ा ही कठिन काम है और संसार के बड़े-से-बड़े महात्मा उससे घबरा गये हैं। जेथसी मीन का स्थल देखिए। मुक्ति पाने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त मार्ग यही लोक-हित के लिए कष्ट उठाना है। सन्यासि सम्राट् शिव अपने भक्तों से कठोर संन्यास एवं आत्म-विसर्जन की आशा करते हैं, वैसे ही जैसे ब्रह्मा ध्यान और विष्णु भक्ति चाहते हैं। यदि कोई पापमुक्त होकर ईश्वर का पुत्र बनना चाहता है तो स्नेह से प्रेरित होकर विश्व के लिए कष्ट उठाने का मूल्य उसे चुकाना ही होगा। ईसाई जिस स्वस्तिक-चिह्न को इतना महत्त्व देते हैं उससे हिन्दू जरा भी नहीं चिढ़ते और न उसे वे किसी प्रकार की अड़चन ही मानते हैं। वह तो ईश्वर की वास्तविक करुणा का प्रतीक है। वह प्रगट करता है कि किस प्रकार प्रेम का आधार आत्म-विसर्जन ही है। हिन्दू-धर्म के इतिहास में अनेक ऋषियों तथा बुद्धों के दृष्टान्त हैं जिन्होंने तपस्या को भी पवित्र कर दिया है और जिन्होंने लोक-हित के लिए आवश्यकता से अधिक कष्ट सहन किया है। यह स्वेच्छापूर्वक अंगीकृत किया कष्ट पूर्व पापों का परिणाम नहीं है।

बहुत दिनों से ईसाई-धर्माचार्य इस अनन्त दंड-विधान के प्रश्न से परेशान हैं तथा उन्होंने भावी विकास के लिए कई योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। १४२९ में फ़्लोरेन्स में जो सभा हुई थी, उसने 'परगेटरी' का समाधान निकाला। 'परगेटरी' न तो स्वर्ग है और न नरक। पुजारी फेरार ने एक बीच की परीक्ष्यमाण स्थिति का निर्देश किया है जिसमें जीवों को पश्चात्ताप करने का अवसर मिलेगा। कुछ धर्म-शास्त्री पीटर (३, १९; ४, ६) के अस्पष्ट वचनों के

आधार पर मृत्यु तथा अन्तिम न्याय के बीच में एक मध्यमा स्थिति को स्वीकार करते हैं। यद्यपि वर्तमान तथा भावी जीवन में अविच्छिन्न सम्बन्ध माननेवाले अनेक हैं पर पूर्व जन्म का समर्थन करनेवाले नहीं के बराबर है। कुछ समय के बाद पाश्चात्य विद्वान् भी हिन्दू-धर्म के उन मूल्यवान् अंशों को समझेंगे जो अब अनेक अनर्गल पौराणिक कथाओं में दब-से गये हैं और जिनके अक्षरशः सत्य होने में किसी भी हिन्दू का विश्वास नहीं है।

(५)

भारतीय ईसाई, जो उसी वातावरण में रहते हैं जिसमें हिन्दू रहते हैं तथा जो भारत के अतीत से सुवासित हैं, ईश्वर की सर्व-व्यापकता से भरे हैं। उनके लिए इस संदिग्ध सिद्धान्त को मानना दिन-दिन कठिन होता जा रहा है कि ईश्वर बड़ा कठोर है तथा उसमें अलौकिक शक्ति है जिससे वह अपनी अवज्ञा करनेवालों को घोर दंड देता है, जिस सिद्धान्त के अनुसार ईसा परमात्मा का भी परमात्मा है जो मनुष्य जाति की पाप-शान्ति के लिए शूली पर चढ़ा एवं जो मरकर जी उठने की चमत्कारी घटना को एक बहुत बड़े पैमाने पर दोहरानेवाला है, जब वह फिर शान के साथ उस संसार में अवतरित होगा जिसने पहली बार उसकी अवहेलना की थी। विचारशील, विशेषतः नई पीढ़ी के, भारतीय ईसाई मानते हैं कि ईश्वर सब मनुष्यों में तथा समस्त संसार में मौजूद है। यद्यपि ईसा ने अपने को इतना पूर्ण कर लिया था कि अन्य पुरुषों की अपेक्षा उसमें ईश्वर की अभिव्यक्ति अधिक सुस्पष्ट हो उठी थी। उनका

मत है कि ईसा का जीवन, जिसने भगवान् के उस मंगलमय प्रेम को स्पष्ट कर दिया जिसे पुरानी धर्म-पुस्तक में भुला दिया गया था यद्यपि इशाया आदिक कुछ महात्मा उससे अनभिज्ञ न थे, संसार की वर्तमान परिस्थिति में विशेष उपयोगी है। वे विश्वासपूर्वक आशा करते हैं कि भद्रता तथा ईसाई-धर्म सम्मत प्रेम—ईसाई-धर्म-सिद्धान्त नहीं—के क्रमिक प्रसार से पृथ्वी पर सतयुग अवश्य आवेगा। उन्हें बहुत बुरा मालूम पड़ता है जब उनके विदेशी सहधर्मी, जिन्हें परम्परा-प्राप्त नियमों में शिथिलता आ जाने के दुष्परिणामों का कोई ज्ञान नहीं, हिन्दुओं के अमूल्य सिद्धान्तों, जैसे ईश्वर की सर्वव्यापकता, अहिंसा, कर्म तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में झूठा प्रचार करके उनका उपहास करते हैं। आज भारत का ईसाई-धर्म हिन्दू-सिद्धान्तों से प्रभावित हो रहा है। वह हिन्दू-सिद्धान्तों को सुन तथा समझ कर उनका अनुकरण कर सकता है अथवा उसकी बातों को अनसुनी करके उससे दूर रह सकता है। परन्तु लक्षणों से तो यही प्रतीत होता है कि वह ठीक ही पथ चुन रहा है। वह यह प्रयास कर रहा है कि हिन्दू-धर्म के उत्तम सिद्धान्त तथा ईसाई धर्म के अच्छे तत्त्वों को मिला दिया जाय और यदि वह इसमें सफल होता है तो इस हिन्दू-प्रभावित ईसाई-धर्म से केवल भारतवर्ष का ही लाभ नहीं होगा वरन् संसार का आध्यात्मिक जीवन अधिक समृद्ध हो जायगा।

६

# बौद्ध-धर्म

बौद्ध-धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध की गणना संसार के महापुरुषों में की जाती है। उनके सम्बन्ध में स्वभावतः अनेक दन्त-कथाएँ प्रचलित हो गई हैं और ऐसे लोग भी हैं जिनका दावा है कि उनका समस्त जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक कल्पना ही है। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि बुद्ध भोग-विलास के वातावरण में जन्म लेनेवाले एक राजकुमार थे जिन्होंने यौवन में ही संसार छोड़कर एकान्तवास अपना लिया था तथा ध्यान एवं चिन्तन के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया था।

वह बौद्धिक संक्षोभ का युग था। प्रचारकों की बौद्धिक विलक्षणता एवं प्रवृत्ति से उत्पन्न अनेक सिद्धान्तों तथा कल्पनाओं से वातावरण पूर्ण था। कुछ उन्हें स्वीकार करते थे, कुछ उनका प्रतिवाद करते थे*। इस संघर्षपूर्ण उत्साह एवं विरोधी दर्शनों को देखकर बुद्ध

* ब्रह्मजाल सुत्त देखो

ने निश्चय कर लिया कि दार्शनिक गवेषणा व्यर्थ है। उन्होंने देखा कि आचरण-क्षेत्र में कर्म-कांड की संस्कार-पद्धति ने नैतिक कर्तव्य-पालन का स्थान ले लिया है। धार्मिक क्षेत्र में भी असभ्यता-युग के अन्ध-विश्वास फिर से सर उठा रहे थे एवं स्वार्थपरायण पुरुष अपने हित-साधन में उनका उपयोग कर रहे थे। बुद्ध ने बताया कि बिना पुजारियों की मध्यस्थता अथवा ईश्वर की चर्चा के भी हम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। लोक-कल्याण-साधन अथवा शुद्ध आचरण से मोक्ष मिलता है, अनिश्चित फल पानेवाले दुराग्रहों को मानने अथवा क्रुद्ध देवताओं की रोष-शान्ति के उद्देश्य से रहस्यपूर्ण क्रियाओं के सम्पादन से नहीं। दार्शनिक चिन्तन की ओर से विरक्ति, धर्मशास्त्र में अनास्था तथा नैतिक आचरण में अनुरक्ति ही बुद्ध के उपदेशों की विशेषता है।

## दर्शन

जिन चार आर्यसत्यों का बुद्ध ने उपदेश दिया है वे हैं—दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध किया जा सकता है, दुःख-निवृत्ति का मार्ग है। दुःख का कारण यह है कि संसार क्षणभंगुर है। सब पदार्थ अपने को व्यक्त करने के प्रयत्न में सदा लगे रहते हैं। इसी उद्भव एवं लय का नाम संसार है। पदार्थ की प्रत्येक दशा, वह चाहे एक क्षण तक रहे और चाहे एक हज़ार वर्ष, उद्भव कहलाती है। बुद्ध ने मनोव्यापार को क्षणिक एवं मनभिन्न वस्तु-जगत् को अनित्य बताकर उनमें भेद किया है परन्तु परवर्ती बौद्ध दार्शनिक समस्त सृष्टि को क्षणिक ही मानते हैं। प्रत्येक व्यापार-शृंखला की एक कड़ी

है, विकास-प्रवाह की एक क्षणिक दशा है और इस प्रकार की सब कड़ियाँ मिलकर ही जगत् बनता है (धर्म-धातु)। वस्तुएँ तथा आत्माएँ परिणाम एवं व्यापार कहलाती हैं।

यदि हम व्यापार के स्थान में वस्तुओं अथवा पदार्थों की चर्चा करते हैं तो हम अस्तित्वहीन पदार्थों की चर्चा करते हैं। द्रव्य तथा गुण, सम्पूर्ण तथा अवयव, कारण तथा परिणाम आदिक न्याय-सम्बन्धों के द्वारा हम स्थिर प्रतीत होनेवाले विश्व की रचना कर लेते हैं। ये सम्बन्ध विचार-जगत् के लिए सत्य हैं, वस्तु-जगत् के लिए नहीं। स्वभावतः हम वस्तुओं के आधारस्वरूप किसी नित्य द्रव्य की कल्पना कर लेते हैं, यद्यपि वह नित्य-आधार केवल कल्पना का गढ़ा हुआ होता है। हम कहते हैं —वृष्टि हो रही है, किन्तु 'वृष्टि' पदार्थ की सत्ता कहाँ है? गति को छोड़कर और कुछ भी तो नहीं है। क्रिया है, पर कर्ता कहीं नहीं है। हम निरन्तर प्रवाह को वस्तुओं की परिवर्तन-रहित एकरूपता समझते हैं। शिशु, बालक, युवक, प्रौढ़ तथा वृद्ध एक ही हैं। बीज और वृक्ष एक हैं। एक के बाद दूसरी स्थिति इतनी शीघ्रतापूर्वक आ जाती है कि हम उसे अखंड एकता समझते हैं, उसी तरह जैसे जलती हुई लकड़ी को घुमाने से हमें एक अखंड वृत्त का भ्रम होने लगता है। एक बड़ी उपयोगी प्रथा के अनुरोध से हम भिन्न-भिन्न समुदायों को विशिष्ट नामों से पुकारने लगते हैं। नाम की अखंडता के कारण हमें उस नाम से युक्त पदार्थ को ही अखंड एक समझने का भ्रम होता है।

स्थायी द्रव्य के अभाव में संसार की निरन्तरता को सार्वभौमिक कारणवाद के सिद्धान्त के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। वस्तु तो केवल किसी धर्म का नाम है, किसी कारण अथवा दशा की संज्ञा है।

"उसकी उपस्थिति में यह होता है, उसके उत्पन्न होने पर इसकी उत्पत्ति होती है, उसके अभाव में यह नहीं उत्पन्न हो सकता, उसका अन्त होने पर इसका भी अन्त हो जाता है।" (मज्झिम निकाय ११, ३२) यह 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त अथवा सापेक्ष-कारणतावाद कहलाता है। परिवर्तन होनेवाली किसी वस्तु की सत्ता नहीं है, केवल परिवर्तन स्वयमेव घटित हो रहा है। विश्व-शृंखला विनाश एवं तत्पश्चात् नूतन सृष्टियों की शृंखला नहीं है। एक दशा अपनी 'पच्छायशक्ति'--सृष्टिशक्ति--अपने पश्चात् आनेवाली दशा को दे जाती है। अतीत तथा वर्तमान एक सन्धि म आबद्ध हो जाते हैं और जब हम प्रकृति का बहिरंग विवेचन करते हैं तो उसे 'पूर्व' तथा 'पर' की विभिन्न स्थितियों की एक निरन्तर परम्परा के नाम से अभिहित करते हैं।

यह प्राण तथा गति के जीवन का संसार एक नियम के अधीन है। जगत्-व्यापार में इस नियम की उपस्थिति ही संकट के समय मनुष्य को आशा बँधाती है। इस जगत्-व्यापार का विशिष्ट रूप कैसा है, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। अधिकतर लोग उसकी सत्ता से तो नहीं इनकार करते पर उसे शक्ति मानते हैं। कभी-कभी ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जिनमें यह वस्तु-जगत् चित्त का विकारमात्र बताया गया है। "चेतना का विनाश कर देने से इस अशेष विश्व का अवसान हो जाता है।" यह जगत् अविद्याजनित है, ज्ञानी के लिए उसकी सत्ता नहीं। संसार के नाना पदार्थ कभी-कभी निर्गुण की अभिव्यक्ति समझे जाते है। जब वास्तविक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो संश्लिष्ट पदार्थ समाप्त हो जाता है, केवल मूल तत्त्व शेष रह जाते हैं। इस अभिव्यक्ति के संसार का विश्लेषण करना बुद्ध को अभीष्ट

नहीं था। उनका उद्देश्य इसके जाल से मुक्त होने में सहायता देना था। "जो लोग धधकती आग में जल रहे हों उन्हें आग की मीमांसा करने की आवश्यकता नहीं, उन्हें तो येन-केन-प्रकारेण उससे बच निकलना है।"

प्रत्येक जीव एक मिश्रित द्रव्य है जिसके घटकावयव, नाम एवं रूप नित्य बदलते रहते हैं। वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान मन के अंग हैं। वेदना रागात्मक अंश है, संज्ञा तथा बुद्धि ज्ञान से सम्बन्धित हैं एवं संस्कार चेष्टा से। बुद्धि कभी-कभी जीव का काम करती है। किसी नित्य जीव अथवा आत्मा का कोई प्रमाण नहीं मिलता। "जब कोई मनुष्य कहता है 'मैं' तो उसका संकेत या तो अवयव-समष्टि की ओर होता है या उनमें से किसी एक की ओर, और इस भाँति उसे वह 'मैं' समझकर अपने को धोखा दिया करता है।" (संयुक्त नि० ३, १३०)। बुद्ध व्यावहारिक आत्मा के घटकावयवों की बात करके ही चुप हो जाते हैं, वे नित्य आत्मा का स्पष्ट विरोध नहीं करते। नागसेन नित्य आत्मा को न्याय-विरुद्ध कल्पना कहता है तथा मानवात्मा को मन की एकीकरण-शक्ति के द्वारा कल्पित एवं जटिल भाव बताता है। जिस प्रकार अनेक गुणों के संग्रह का नाम शरीर है उसी प्रकार हमारी समस्त मानसिक दशाओं का समुच्चय ही आत्मा कहलाता है।

आत्मा की कल्पना में पुनर्जन्म को सार्थक बनाने के लिए पर्याप्त स्थान है। व्यक्ति असम्बद्ध घटनाओं की अस्त-व्यस्त शृंखला नहीं है वरन् वह एक सजीव निरन्तरता है। दुबारा जन्म लेनेवाला मनुष्य वही मृत मनुष्य नहीं होता पर वह उससे सर्वथा भिन्न भी नहीं होता। न तो वे पूर्णतः एक ही हैं एवं न सर्वथा भिन्न। निरन्तरता भी है

तथा उसके साथ ही नित्य परिवर्तन भी हैं। हमारा प्रत्येक अनुभव उस दूसरे अनुभव क्षय अथवा दशा की ओर ले जाता है, उसमें परिणमित अथवा समाप्त हो जाता है, जिसमें सम्पूर्ण अतीत सन्निहित रहता है।

## आचरण-शास्त्र तथा धर्म

जीवन का लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है। जो कर्म इसमें सहायक हैं वे अच्छे समझे जाते हैं। बौद्धों का आचरण-शास्त्र आर्य अष्टांगिक मार्ग कहलाता है जिसके आठ अंग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि। यह मध्यम प्रतिपदा अथवा मध्यमार्गीय धर्म कहलाता है। इसमें अत्यधिक तप तथा अत्यधिक भोग दोनों का ही परित्याग करके बीच का रास्ता--मध्य मार्ग—स्वीकृत हुआ है। इसका उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण मानसिक जीवन को रूपान्तरित कर देना है, बौद्धिक भावनात्मक एवं क्रियात्मक सभी क्षेत्रों को नवीनता प्रदान कर देना है।

बुद्ध के समय में वर्ण-व्यवस्था में काफ़ी अनवस्था उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने ब्राह्मणत्व को जाति के स्थान में कर्म पर–आचरण पर–निर्भर बताकर इस संस्था को काफ़ी दुर्बल बनाया। परन्तु वे समाज सुधारक नहीं थे। उनका मुख्य उद्देश्य धर्म था। यद्यपि नियमतः सभी उसमें सम्मिलित हो सकते थे परन्तु यथार्थतः उच्च वर्णों तक ही उनका धर्म सीमित था। उन्होंने गृह्य-संस्कार-पद्धति में कोई हस्तक्षेप नहीं किया और वे वैदिक पद्धति के अनुसार बराबर चलते रहे। बुद्ध को

आनन्दोपलब्धि के रहस्य का उद्घाटन नहीं करना था प्रत्युत् लोगों को उस अनुभव में लगा देना था। निर्वाण शब्द का अर्थ 'बुझना' अथवा 'शान्त' होना है। अतः उष्ण वासना के बुझने को, वासना, घृणा एवं अविद्या की अग्नि के शान्त होने को, निर्वाण प्राप्त करना कहते हैं। "हमें निर्वाण को शून्य नैश अन्धकार नहीं समझना चाहिए। "वह तो विश्वास, शान्ति, उद्वेगाभाव, आनन्द, सुख, मृदुता, पवित्रता तथा उत्साह से पूर्ण एक नित्य जीवन का नाम है" (मिलिन्द २,२६)। यमक ने निर्वाण को जो विनाश बताया था उसे अधर्म बताकर उसका प्रतिवाद किया गया है। (संयुक्त निकाय ३,१०३) ज्ञानातीत होने के कारण निर्वाण के स्वरूप का वर्णन करते समय निषेध-वाक्यों का प्रयोग किया जाता है।

हमें बुद्ध-धर्म को बिलकुल नवीन, अतीत-आधार-रहित, मानने की आवश्यकता नहीं। यह तो उसी विचार-धारा का बाद का रूप है जिसका पूर्वरूप उपनिषदों में प्रतिपादित हुआ है। चरम सत्य, मोक्ष का स्वरूप तथा आत्मा की नित्यता आदि प्रश्नों का उत्तर बुद्ध ने नहीं दिया है। वे ऐसे विषय हैं जिन्हें स्थगित कर दिया गया है तथा जिन पर विचार करने की अनुमति बुद्ध नहीं देते। मालुंक्य के प्रश्नों का उत्तर देने से उन्होंने यह कहकर इनकार कर दिया कि वे हम व्यावहारिक जीवन में कोई सहायता नहीं देते (वच्च प्रश्न भी देखो)। दार्शनिक प्रश्नों पर उनके मौन-साधन के भाँति-भाँति के अर्थ लगाये जाते हैं। कुछ उनके प्राचीन अनुयायी एवं आधुनिक व्याख्याकार इसे निषेधसूचक मानते हैं। उनका कहना है कि बुद्ध किसी भी भौतिक अथवा समष्टि विषयक चरम सत्ता का अस्तित्त्व नहीं मानते थे। इस विचार के अनुसार निर्वाण शून्य है। कभी-कभी कहा जाता है कि बुद्ध

ने इस विचार को पल्लवित करके इसीलिए लोगों के समक्ष नहीं रखा कि इससे कहीं वे भड़क न जायँ। यह विचार बुद्ध के दर्शन को असम्बद्ध तथा उनके चरित्र को सन्देहजनक बना देता है। बुद्ध के विधि-सूचक कुछ ऐसे वचन भी हैं जिनकी संगति इस निषेध-मूलक बुद्धिवाद से नहीं बैठती। शुष्क मत बुद्ध के समकालीन देवोपासक मनुष्यों को कैसे पसंद आता। दूसरों का कहना है कि उनका मौन उनके अज्ञान को छिपाये रखने का आवरण है। वस्तुओं की यथार्थता का ज्ञान उन्हें नहीं था। यह मत इसलिए असंगत प्रतीत होता है कि बुद्ध का अपना ऐसा दृढ़ विश्वास था कि मुझे सत्य का पता है और उसे मैं दूसरों तक पहुँचा भी सकता हूँ। यह मानना कठिन है कि बुद्ध स्वयं अज्ञान में थे और अपने अनुयायियों को भी वे अज्ञान में बनाये रखना चाहते थे। कोई भी विचारशील व्यक्ति चरम प्रश्नों के सम्बन्ध में बिना किसी निष्कर्ष पर पहुँचे नहीं रह सकता। यह कहना अधिक युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है कि बुद्ध उपनिषदों से मिलते-जुलते किसी भावात्मक आदर्श को मानते थे जिसका प्रचार उन्होंने केवल इसलिए नहीं किया क्योंकि वे चाहते थे कि प्रत्येक पुरुष उसका आविष्कार अपने अनुभव से करे। उन्होंने दार्शनिक प्रश्नों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा क्योंकि दार्शनिक वितंडा जीवन के प्रधान लक्ष्य नैतिक आचरण में अड़चन डालती है। पवित्रता-प्राप्ति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं क्योंकि पवित्रता नैयायिक अथवा बौद्धिक न होकर आध्यात्मिक तथा आभ्यन्तरिक होती है। यदि हम इस मत को नहीं मानते तो बुद्धकृत निर्वाण के भावात्मक वर्णनों तथा परिणामी जगत् से परे की नित्य सत्ता को निषेध करने से दृढ़तापूर्वक इनकार करने की संगति नहीं बैठ सकती। उनके काशी के उपदेश में एक निरपेक्ष सत्ता के अस्तित्व का

स्पष्ट आभास मिलता है। उपनिषद्-सम्मत मानव-मस्तिष्क की परिमित क्षमता को ध्यान में रखकर ही बुद्ध ने उसका स्पष्ट भावात्मक वर्णन नहीं किया है, परन्तु न्याय की सीमा के भीतर जितना सम्भव है, उन्होंने उस चरम तत्व को धर्म कहकर वर्णित किया है। उपनिषदों में धर्म एवं सत्य को एक ही माना गया है। चूँकि बुद्ध नैतिक आचरण को ही मुख्य मानते थे अतएव उन्होंने उस निरपेक्ष सत्ता के नैतिक स्वरूप पर ही विशेष बल दिया है। उनके उपदेशों में ब्रह्म का स्थान धर्म ने ही ले लिया है। (इस प्रश्न पर देखो 'माइंड' १६२६ पृष्ठ १५८-१७४)।

# ७

# भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन के समस्त इतिहास म मनुष्य के कर्मक्षेत्र इस सामान्य संसार के परे एक अधिक वास्तविक परम सूक्ष्म संसार की—सच्चे आत्मलोक की—कल्पना भारतवासियों के मस्तिष्क में बराबर रही है। जीवन-समस्या के रहस्योद्घाटन में तथा पशुता से ऊपर उठ कर नैतिक एवं आध्यात्मिक शिखर पर जा चढ़ने में मनुष्य जिस प्रकार सतत प्रयत्नशील रहा है, उसका सुन्दर दृष्टान्त हमें भारतवर्ष में मिलता है। वहाँ चार हजार वर्ष के—और यदि सिन्ध एवं पंजाब की नवीनतम खोजों को भी सम्मिलित कर लें तो और भी अधिक काल के—मानव-प्रयास का निरीक्षण भली भाँति किया जा सकता है। यह अबोध सरल विश्वास कि संसार का शासन सूर्य तथा अन्य आकाश-स्थित देवता करते हैं जो ऊपर बैठे-बैठे देखा करते हैं कि मनुष्य का आचरण सरल है अथवा कुटिल; यह मानना कि जो देवता मनुष्य की मनस्कामना पूर्ण करने को प्रार्थना से सम्मत तथा यज्ञ से विवश होते हैं वे एक ही ब्रह्म के नाना रूप हैं; यह निश्चित सिद्धान्त कि जिसका ज्ञानमात्र

मोक्षदायक है, वह निर्विकार, नित्य शुद्ध परमात्मा तथा मनुष्य-हृदय के अन्तरतम प्रदेश में स्थित जीवात्मा एक ही है, जड़वाद, नास्तिक दर्शन, भाग्यवाद आदि का प्रादुर्भाव; तत्पश्चात् जैन तथा बौद्ध नैतिक सम्प्रदाय जिनका सिद्धान्त है कि ईश्वर की सत्ता मानो चाहे न मानो केवल मनसा वाचा कर्मणा शुद्ध रहकर निर्वाण लाभ किया जा सकता है; श्रीमद्भगवद्गीता का उदार ईश्वरवाद जो ब्रह्म में दार्शनिक पूर्णता के साथ-साथ पूर्ण नैतिकता का भी समावेश करता है; नैयायिकों की तर्क-विद्या जिसके द्वारा ज्ञेय जगत् के उन मुख्य 'पदार्थों' का ज्ञान होता है जिनका व्यवहार शास्त्रीय विवेचन में अब तक होता है; वैशेषिकों का प्रकृति-विवेचन; सांख्य का वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक विचार-विमर्श; योग का विभूति-सम्पादन-मार्ग; मीमांसा के नैतिक तथा सामाजिक विधि-निषेध; शंकर, रामानुज, माधव, निम्बार्क, वल्लभ एवं जीव गोस्वामी के धार्मिक व्याख्यान--ये सब मानव इतिहास में दार्शनिक विकास के संचित उत्कृष्ट उपकरण हैं। मत के बाद मत, सम्प्रदाय के बाद सम्प्रदाय न्यायक्रम से आता गया। भारतीय जीवन निरन्तर गतिशील रहा; जैसे-जैसे उसमें विकास होता गया उसका स्वरूप भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार बराबर परिवर्तित होता रहा। शुरू-शुरू में प्राचीन भारतवासी प्रत्येक क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयास कर रहे थे। उन्हें अतीतोपार्जित ज्ञान का सहारा प्रायः बिलकुल ही नहीं था। उनको कुछ घोर कठिनाइयों का सामना भी करना था जो आज हमारे सामने हैं ही नहीं। इतना होने पर भी विचार एवं व्यवहार के क्षेत्र में उन्होंने बहुत कुछ किया है। पर चक्र पूरा नहीं हुआ, सभी सम्भावित रूप समाप्त नहीं हो सके, समस्या उलझी-की-उलझी ही बनी है। दर्शन अभी तक अपने शैशव में ही पड़ा है, उसे पार नहीं कर पाया।

अन्य दर्शनों की भाँति भारतीय दर्शन की आलोचना से विश्व की रहस्यमयता एवं अनन्तता का तथा उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य के आग्रहपूर्ण मनोरम प्रयत्न का परिचय मिलता है। अगणित तत्त्वदर्शी पंडितों ने मानव-ज्ञान-मन्दिर के थोड़े बहुत भाग को, सतत अपूर्ण मानव-ज्ञान के किसी नूतन खंड को, निर्मित किया है। किन्तु मनुष्य की गम्भीर मीमांसा उस लक्ष्य तक न पहुँच सकी जिसे वह न तो पूर्णतः प्राप्त ही कर सकता है और न छोड़ ही सकता है। उत्तराधिकार में अतीत से पाई टिमटिमाती हुई ज्ञान-ज्योति की तमोनिवारण-शक्ति की वैसी तीव्र अनुभूति हमें नहीं है जैसी चतुर्दिक् प्रसरित घोर अन्धकार की गहनता की है। दार्शनिकों के इतने प्रयत्नों के पश्चात् भी चरम लक्ष्य से आज हम उतनी ही दूर हैं जितनी दूर युगों पहिले थे—जितनी दूर जब तक हम मनुष्य हैं प्रामीथियस की भाँति रहस्य-पर्वत में शान्त-मस्तिष्क की सुदृढ़ डोरी से बँधे रहकर सदा ही रहेंगे*। दार्शनिक मीमांसा, फिर भी, व्यर्थ नहीं है। उसकी सहायता से हम अपने बन्धनों को महसूस कर सकते हैं, बाँधनेवाली जंजीरों की झनकार सुन सकते हैं। उससे हमें मानव-

* जेनो फ़ेनस का कथन है—"देवताओं तथा जिसे हम सार्वलौकिक प्रकृति कहते हैं, उसके सम्बन्ध में पूर्ण निश्चय के साथ कोई कुछ नहीं जान सका है और न आगे ही जान सकेगा। यदि दैवात् कोई सत्य तक पहुँच भी गया तो भी उसे तथ्य का ज्ञान नहीं होगा; क्योंकि सब कुछ माया से आच्छादित है।" (Gomperiz: Greek Thinkers, Vol. I. page 164).

दुर्बलताओं का बड़ा तीव्र ज्ञान हो जाता है और इस प्रकार अपनी पूर्णता का अनुभव होता है तथा इस नश्वर जीवन की अपूर्णता सर्वतोभावेन स्पष्ट हो जाती है। यदि यह संसार हमारी बुद्धि के लिए उतना ही सरल तथा स्पष्ट नहीं है जितना हम चाहते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! दार्शनिक तो ज्ञान का प्रेमीमात्र होता है, स्वामी नहीं। यात्रा के अन्त का विशेष महत्त्व नहीं है, यात्रा ही सब कुछ है। परिभ्रमण में जो आनन्द है वह यात्रा समाप्त हो जाने पर कहाँ मिल सकता है?

वक्तव्य निश्शेष हो जाने पर अब हम जिज्ञासा कर सकते हैं कि क्या इतिहास का ज्ञान विकास का, उन्नति का, समर्थन करता है? मानव विचार-धारा आगे की ओर, विकास की ओर, बढ़ रही है अथवा पीछे की ओर जा रही है? परिणाम चंचल अथवा अर्थहीन नहीं है। भारतवर्ष विकास में विश्वास रखता है क्योंकि, जैसा हम पहिले कह चुके हैं, भिन्न-भिन्न युगों में नैसर्गिक सम्बन्ध है। अविच्छिन्नता का आभ्यन्तरिक सूत्र कभी टूटा नहीं है। वे क्रांतियाँ भी जो अतीत की काल प्रतीत होती हैं, उसमें पुनः प्राण-प्रतिष्ठा ही करती हैं। पीछे लौटकर चक्कर लेनेवाली भँवर जलधारा का अवरोध नहीं करती, उसे और भी गति देती है। जिन्हें हम अवनति के युग कहा करते हैं वे वस्तुतः इस देश के निकट अतीत की भाँति पुराने जीवन से नवीन की ओर आने के परिवर्तन काल होते हैं। अवनति तथा उन्नति की युगल धारायें एक ही में मिल जाती हैं। कभी तो उन्नति की ओर ले जानेवाली शक्तियाँ बड़े वेग से आगे को बढ़ती नजर आती हैं, कभी गति अनिश्चित दशा में अवरुद्ध-सी प्रतीत होती है और कभी परावर्तन की शक्तियाँ

विकास की शक्तियों को पराजित करके पीछे की ओर जाती दिखाई देती हैं, पर सब मिलाकर देखने से मालूम होगा कि गति आगे की ही ओर हुई है। इससे इनकार करना ठीक नहीं होगा कि इस पद्धति में बहुत कुछ विनष्ट हो गया, किन्तु अतीत के इतिहास ने जिस मार्ग को चुन लिया उस पर बिगड़ने अथवा आँसू बहाने के समान व्यर्थता कदाचित् ही कहीं मिले। कुछ हो, दूसरा परिणाम यदि होता तो बुरा होता। अधिक महत्त्व की वस्तु तो भविष्य है। हम अपने पूर्वजों से ज्यादा दूर तक देख सकते हैं क्योंकि हम उनके कंधों पर चढ़ सकते हैं। अतीत में जो श्रेष्ठ नींव डाल दी गई है उससे हमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए वरन् हमें तो उससे अधिक भव्य प्रासाद का निर्माण करना चाहिए जो अतीत-प्रयास तथा नूतन दृष्टिकोण दोनों में सामंजस्य स्थापित कर सके।

## सब दर्शनों की एकता

परम्परा-भक्ति तथा सत्य-प्रेम ये दो बातें भारतीय दार्शनिकों के समस्त प्रयत्नों में किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाई जाती हैं। प्रत्येक दार्शनिक यह समझता है कि उसके पूर्वजों के सिद्धान्त ही वह शिलायें हैं जिनसे आध्यात्मिक प्रासाद निर्मित हुआ है, उनकी निन्दा अपनी ही संस्कृति की निन्दा है। एक उन्नतिशील जाति, जिसकी अपनी सम्पन्न संस्कृति है, उस संस्कृति की अवहेलना कभी नहीं कर सकती, भले ही उस संस्कृति के कुछ अंग ऐसे हों जो श्लाघ्य न कहे जा सकें। ये दार्शनिक बड़े परिश्रम से प्राचीन सम्प्रदाय को समझाने का प्रयास करते हैं,

उसमें लाक्षणिकता खोज निकालते हैं, उसे परिवर्तित एवं परिशोधित भी करते हैं क्योंकि वह लोक-भावनाओं का केन्द्र बन चुका है। परवर्ती भारतीय आचार्य पूर्वगामी दार्शनिकों के विश्व के सम्बन्ध में निश्चित किये हुए विविध सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं और उन सबको ही सत्य का भिन्न-भिन्न मात्रा में दिग्दर्शक मानते हैं। यह नहीं माना जाता कि विभिन्न सम्प्रदाय यथार्थतः एक अज्ञात प्रदेश में मानव-मस्तिष्क के असम्बद्ध अभियान अथवा दार्शनिक विचित्रताओं का संग्रह हैं। वे सब उस एक ही मस्तिष्क से निकले माने जाते हैं जिसने इस महान् मन्दिर का निर्माण किया है, यद्यपि उस मन्दिर में अनेक दीवालें, अनेक देहलियाँ, अनेक मार्ग और खम्भे हैं।

न्याय तथा विज्ञान में, दर्शन तथा धर्म म, प्राकृतिक सम्बन्ध है। विचारों की उन्नति का प्रत्येक नूतन युग न्याय के सुधार से ही प्रारम्भ होता है। पद्धति की समस्या का विशेष मूल्य है क्योंकि इसमें मानव-विचारों की प्रकृति का खास ज्ञान सन्निहित है। न्याय-दर्शन हमें यह बताता है कि कोई भी चिरस्थायी दर्शन बिना तर्क-शास्त्र के आधार के नहीं बन सकता। वैशेषिक चेतावनी देता है कि प्रत्येक सफल दर्शन के लिए भौतिक प्रकृति की रचना-प्रणाली का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। हम हवाई क़िला नहीं बना सकते। यद्यपि दर्शन तथा भौतिक विज्ञान दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं जो कभी एक नहीं हो सकते, फिर भी दार्शनिक योजना को प्रकृति-विज्ञान के निष्कर्षो से समंजसता रखनी होगी। किन्तु जो बातें भौतिक जगत् के सम्बन्ध में सत्य हैं, उन्हें यदि हम अधिक व्यापक मानकर सम्पूर्ण विश्व पर आरोपित कर दें तो

हम वैज्ञानिक दर्शन का प्रचार करने के दोषी ठहराये जायँगे। सांख्य-शास्त्र इस खतरे से बचने के लिए हमें सावधान करता है। प्रकृति की समस्त शक्तियाँ चेतना के उत्पादन में असमर्थ हैं। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दार्शनिकों की भाँति प्रकृति अथवा चेतनता को हम एक-दूसरे के रूप से परिवर्तित नहीं कर सकते। सत्य का दर्शन हमें विज्ञान तथा मानव-जीवन में ही नहीं मिलता वरन् धार्मिक अनुभूति में भी मिलता है और यह अनुभूति ही योग-दर्शनका विषय है। पूर्व मीमांसा और वेदान्त आचरण तथा धर्म पर विशेष ज़ोर देते हैं। वाह्य प्रकृति तथा मानव-मस्तिष्क का सम्बन्ध-ज्ञान ही वेदान्त-दर्शन का महत्त्वपूर्ण विषय है। जो कहा गया था कि ऋषि लोग एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, वह दर्शनों के सम्बन्ध में भी सच है। न्याय-वैशेषिक यथार्थवाद, सांख्य-योग द्वैतवाद तथा वेदान्त के अद्वैतवाद में सत्य एवं असत्य का नहीं, कम सत्य एवं अधिक सत्य का अन्तर है।* वे तो क्रमशः मन्दाधिकारी, मध्यमाधिकारी एवं उत्तमाधिकारी की आवश्यकताओं की पूर्ति के उद्देश्य से निर्मित हुए हैं। एक

* माधव– 'सर्वदर्शन संग्रह', मधुसूदन सरस्वती 'प्रस्थानभेद', विज्ञान भिक्षु—'सांख्य प्रवचन भाष्य'। कान्ट से तुलना कीजिये— "जब हम दो विद्वानों के विचारों में समन्वय करके सत्य का दर्शन कर लेते हैं—और एक-दूसरे का प्रत्याख्यान करते रहने पर भी ऐसा कभी नहीं होता कि भिन्न-भिन्न विचारों के भीतर प्रच्छन्न एक ही सत्य का दर्शन वे न कर सकें—तो हम मानव-बुद्धि के गौरवपूर्ण पद की रक्षा करते हैं।" वार्ड— 'कान्ट का अध्ययन' में उद्धृत, पृष्ठ ११, नोट १

ही मूल पाषाण को काट-छाँट कर विभिन्न सम्प्रदायों का निर्माण किया गया है, सबका मूलाधार एक, भेद रहित, पूर्ण एवं अन्य अपेक्षारहित है। विश्व-सम्बन्धी कोई भी ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक उसमें न्याय तथा भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र, दर्शन तथा धर्म के विभिन्न पहलू नहीं हैं। जितने दार्शनिक सम्प्रदायों का जन्म भारत में हुआ है, उनमें से प्रत्येक ने अपना स्वतंत्र तत्व-मीमांसा-शास्त्र, प्रकृति तथा आत्मा का सम्बन्ध-निर्देश एवं नीति तथा धर्म-शास्त्र का विधान किया है। प्राकृतिक विज्ञान की संरक्षता में जगत्-सम्बन्धी हमारा ज्ञान बहुत उन्नति कर चुका है और अब हम जीवन के किसी सीमित दृष्टिकोण से ही संतुष्ट नहीं हो सकते। भविष्य में जो दार्शनिक प्रयास किये जायँगे उनको मनोविज्ञान एवं प्राकृतिक विज्ञान के नवीनतम अनुसन्धानों से सम्बन्ध स्थापित करने की ज़रूरत होगी।

## जीवन तथा दर्शन

दर्शन का काम जीवन को व्यवस्थित करना तथा उसे मार्ग प्रदर्शित करना है। दर्शन जीवन के नेतृत्व को ग्रहणकर संसार के अनेक परिवर्तनों एवं परिस्थितियों में से होकर रास्ता दिखाता है। जब तक दर्शन जीवित रहता है, वह लोक-जीवन से दूर नहीं जाता। दार्शनिकों के विचार उनकी व्यक्तिगत जीवन-चर्या से ही विकसित होते हैं। हमें उसके प्रति केवल श्रद्धा ही नहीं रखना है प्रत्युत् उस भावना की प्राप्ति भी करनी है। वशिष्ठ तथा विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य तथा गार्गी, बुद्ध तथा महावीर, गौतम

तथा कणाद, कपिल तथा पतञ्जलि, वादरायण और जैमिनि केवल इतिहासकारों के विषयमात्र नहीं हैं, वे व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न प्रकार भी हैं। उनके लिए दर्शन, विचारों तथा अनुभव पर आधारित संसार-सम्बन्धी एक दृष्टिकोण है। भली भाँति मनन किये हुए विचार ही जीवनरूपी सर्वोच्च परीक्षा में व्यवहृत एवं परीक्षित होकर धर्म बन जाते हैं। दर्शन का अभ्यास धर्माचरण की पूर्ति करना भी तो है।

## निकट अतीत में दर्शन की अवनति

इस पुस्तक में जिस साक्ष्य का संग्रह किया गया है, उससे तो इस बात की पुष्टि नहीं होती कि भारतीय मस्तिष्क विचार करने से घबराता है। भारतीय विचारों की सम्पूर्ण उन्नति को केवल यह कहकर नहीं उड़ाया जा सकता कि भारतीय मस्तिष्क इतना तर्क-प्रेमी अथवा सशक्त नहीं है कि वह भद्दी कल्पना तथा मूर्खतापूर्ण देव-कथाओं से ऊपर उठ सके। किन्तु फिर भी पिछली तीन-चार शताब्दियों के दार्शनिक इतिहास में प्रचुर मात्रा में ऐसी सामग्री पाई जाती है जिससे यह आक्षेप बहुत कुछ सिद्ध होता-सा प्रतीत होता है। अब भारत ने एशिया* खंड में उच्च ज्ञान के नेतृत्व का

* प्रोफ़ेसर लांग काई चो ने चीन के प्रति भारत के ऋण को इस प्रकार व्यक्त किया है--"भारत ने हमें पूर्ण स्वाधीनता का पाठ पढ़ाया है, उस आधारभूत मानसिक स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाया है जिससे हमारा मस्तिष्क परम्परा, आदत तथा वर्तमान

महत्त्वपूर्ण कार्य करना छोड़ दिया है। कुछ लोग यह सोचने लगे हैं कि जो ज्ञान-सरिता शताब्दियों से विचाररूपी जल से भरी पूर्ण वेग के साथ प्रवाहित हो रही थी, वह कदाचित् अवरुद्ध होकर अशुद्ध गन्दे जल में हो अब समाप्त होने को है। दार्शनिक अथवा कहना चाहिए कि इस अवनति-काल के दर्शन-लेखक अपने को सत्य का भक्त तो कहते हैं पर सत्य से उनका तात्पर्य केवल मिथ्या वाक्छल अथवा किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अबाध्य सिद्धान्तों में बाल की खाल निकालनेमात्र से है। इन तर्क-

युग की रीतियों की दासता-पाश को तोड़ने में सफल हो सकता है—वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता जो भौतिक जीवन के समस्त बन्धनों को काट देती है। ······भारत ने हमें निरपेक्ष प्रेम भी सिखाया है, प्राणिमात्र के लिए वह पवित्र स्नेह जिसके कारण ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, अधैर्य तथा स्पर्धा की नीच वृत्तियों का विनाश होता है, जो मूर्ख, दुष्ट तथा पापियों के प्रति भी दया एवं समवेदना जाग्रत् करता है—वह निरपेक्ष प्रेम जो प्राणिमात्र में अद्वैत दृष्टि रखने की शिक्षा देता है।" इसके बाद उन्होंने समझाया है कि चीन के साहित्य एवं कला को, संगीत एवं शिल्प को, चित्रकला तथा मूर्तिविद्या को, नाटक, कविता तथा आख्यायिका को ज्योतिष तथा आयुर्वेद शास्त्र को शिक्षा-पद्धति एवं समाज-व्यवस्था को क्या-क्या मिला है। देखो त्रैमासिक विश्व भारती अक्टूबर १९२४। ब्रह्मा तथा लंका पर, जापान तथा कोरिया पर जो भारत का प्रभाव पड़ा वह तो सर्वविदित ही है।

व्यवसायियों का विश्वास है कि उनके पार्श्व में स्थित छोटा-सा झरना ही—बालुका-क्षेत्र में लुप्त हो जानेवाली अथवा कुहासे के रूप में उड़ जानेवाली ह्रस्व-काय कुल्या ही—भारतीय दर्शन की विशाल सरिता है।

इस निष्कर्ष पर पहुँचने के अनेक कारण हैं। मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो जाने से जो राजनीतिक परिवर्तन हुए, उनके फलस्वरूप लोग कुछ रूढ़िवादी तथा अनुदार हो गये। उस युग में, जब व्यक्तिगत गौरव तथा सिद्धान्तों के प्रचार से प्राचीन समाज-व्यवस्था तथा स्थायी विचार-धारा में अराजकता फैल रही थी, किसी सर्वमान्य प्रामाणिक नियंत्रण की विशेष आवश्यकता थी। मुस्लिम-विजय तथा इस्लाम के प्रचार और तदुपरान्त ईसाई-धर्म के प्रचार ने हिन्दू-समाज की नींव ही हिला दी और अस्थिरता की इस गम्भीर चेतना से युक्त युग में स्वभावतः नियामक सत्ता ही वह सुदृढ़ शिला बनी, जिस पर समाज के रक्षण तथा आचरण की पवित्रता का निर्माण किया जा सकता था। इस सांस्कृतिक संघर्ष में रूढ़ियों की शरण में जाकर हिन्दुओं ने अपने को सबल बनाया तथा आक्रमण करनेवाले विचारों को उन्होंने अपने पास ही नहीं फटकने दिया। उनके समाज ने तर्क से विश्वास खोकर तथा बहस से ऊबकर अपने को पूर्णरूप से उस नियामक सत्ता के अधीन कर दिया जिसने शंका को ही पाप घोषित कर दिया। तभी से वह अपने आदर्श का सच्चा भक्त नहीं रहा। उसमें सच्चे दार्शनिकों का अभाव हो गया, बच रहे केवल कुछ पंडित जो नवीनता का तिरस्कार करके पुराने राग अलापने में लग गये। कुछ शताब्दियों तक वे इस कल्पित चरम सिद्धान्त से अपने को

धोखा देते रहे। रचनात्मक शक्ति का ह्रास हो जाने से लोग दर्शन के इतिहास को ही दर्शन समझने लगे। भारतीय दर्शन स्वकर्तव्य पराङ्मुख होकर प्रवंचना में ही पड़ा रहा। जनसाधारण के विचारों की अभिभावकता तथा पथ-प्रदर्शन से दूर हटकर उसने अपने ऊपर बहुत बड़ा अत्याचार किया। बहुतों का विश्वास हो गया कि उनकी जाति ने जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक दीर्घकालीन लम्बी यात्रा की थी, वह उन्हें आखिर प्राप्त हो गया है। वे थक-से गये और उनकी इच्छा होने लगी कि अब विश्राम किया जाय। वे लोग भी, जो समझते थे कि वे लक्ष्य तक अभी नहीं पहुँच पाये हैं और जिन्हें भविष्य में काफ़ी विस्तृत क्षेत्र अब भी चलने को बाक़ी दिखाई पड़ता था, अज्ञात पथ से तथा उसकी कठिनाइयों से भयभीत थे। दुर्बल हृदय के व्यक्तियों का चुप्पी तथा अनन्तता के सम्बन्ध में शंका करना खतरे से खाली नहीं है। अनन्त की गवेषणा एक ऐसा चक्कर है जिससे बचने का प्रयास बड़े-बड़े शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति भी यथासम्भव किया करते हैं। मनुष्य की बड़ी-से-बड़ी शक्ति में भी उत्साहहीनता के क्षण आते हैं और इन तीन-चार शताब्दियों में दार्शनिक प्रेरणा पर भी उत्साह-हीनता अथवा अकर्मण्यता का आक्रमण हो गया था।

## वर्तमान स्थिति

आज संसार के बड़े-बड़े धर्मों तथा विचार-धाराओं का भारतवर्ष में सम्मिलन हो गया है। पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क से पिछले युग के आत्म-सन्तोष में कुछ क्षोभ उत्पन्न हो गया है। एक भिन्न संस्कृति को

स्वीकार कर लेने का एक फल यह हुआ है कि लोगों की यह धारणा बन गई है कि चरम प्रश्नों का कोई आधिकारिक समाधान नहीं हो सकता। परम्परा-प्राप्त समाधानों में विश्वास नहीं रहा और किसी हद तक विचारों में कुछ अधिक स्वतंत्रता एवं अधिक परिवर्तनशीलता को प्रश्रय मिल गया है। प्रथाएँ फिर तरल हो गई हैं और यद्यपि कुछ लोग प्राचीन नींव पर ही पुनर्निर्माण करना चाहते हैं पर कुछ ऐसे भी लोग हैं जो उस नींव को ही हटा देने के पक्ष में हैं। यह परिवर्तन-कालीन युग काफ़ी मनोरंजक तथा चिन्तापूर्ण है।

निकट अतीत में भारतवर्ष विश्व की विचार-धाराओं के मुख्य प्रवाह से दूर एक सुरक्षित कोने में पड़ा था, पर आज तो शेष संसार के साथ सम्बन्ध-हीनता की वह दशा नहीं रही है। आज के तीन-चार सौ वर्ष बाद के इतिहासकार को भारत तथा योरोप के पारस्परिक आदान-प्रदान के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखना होगा, पर अभी तो वह सब अप्रकट ही है। जहाँ तक भारतवर्ष का सम्बन्ध है, हमें लोगों के अनुभव के क्षेत्र में काफ़ी व्यापकता मिलती है; लोगों में आलोचना की प्रवृत्ति जाग उठी है तथा अकेली सैद्धान्तिक चिन्तना से लोगों को अरुचि उत्पन्न हो गई है।

किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है। क्रिया की ही तरह विचारों के क्षेत्र में भी अत्यधिक बन्धन एवं पूर्ण अनवस्था दोनों ही मनुष्य की आत्मा को पतन की ओर ले जाती हैं। जहाँ तक संस्कृति तथा सभ्यता का सम्बन्ध है, दोनों समान ही हैं। हो सकता है कि अराजकता में भौतिक कष्ट, आर्थिक बरबादी तथा सामाजिक खतरा हो और बन्धन में भौतिक सुख, आर्थिक स्थिरता तथा सामाजिक शान्ति हो, पर सभ्यता को आर्थिक सम्पन्नता अथवा सामाजिक

व्यवस्था की रक्षा समझ लेना भारी भूल होगी। कई पीढ़ियों तक सार्वजनिक कलह तथा व्यक्तिगत कष्ट झेलकर भारतवर्ष ने अंग्रेज़ों के आगमन का जो स्वर्ण-युग समझकर स्वागत किया था, उसका समझना कुछ कठिन नहीं है, पर भारत की वर्तमान भावना को सहानुभूतिपूर्वक समझना भी उतना ही सरल है। मनुष्य की आत्मा सुख की नहीं, आनन्द की भूखी है; उसे शान्ति एवं सुव्यवस्था नहीं, जीवन तथा स्वाधीनता चाहिए; उसे आर्थिक स्थिरता अथवा न्यायपूर्ण शासन की चाह नहीं प्रत्युत् असंख्य दुःख-कष्ट उठाकर भी अपनी मुक्ति के मार्ग को स्वयं प्रशस्त करने का अधिकार चाहिए। राजनीतिक स्वतंत्रता के अभाव में ग़ैरराजनीतिक गुणों का भी उचित विकास नहीं होने पाता। अंग्रेज़ों के शासन ने भारत को शान्ति एवं सुरक्षा अवश्य प्रदान की है पर वह तो कोई चरम साध्य नहीं है। यदि हम वस्तुओं का ठीक-ठीक मूल्य आंकना चाहते हैं तो हमें मानना ही पड़ेगा कि आर्थिक स्थिरता तथा राजनीतिक सुरक्षा मूल्यवान् एवं आवश्यक होने पर भी आध्यात्मिक स्वतंत्रता के साधनमात्र हैं। आध्यात्मिक उद्देश्य की बिलकुल चिन्ता न करनेवाला निरंकुश शासन, वह कितना ही भला एवं उदार क्यों न हो, शासित प्रजा में स्फूर्ति का संचार नहीं कर सकता और इसलिए उस प्रजा से किसी प्रबल प्रतिक्रिया की आशा नहीं की जा सकती। जब जीवन-निर्झर सूख रहा हो, जब सहस्रों वर्ष से चले आनेवाले आदर्श, चेतना का प्रकाश, शक्ति का स्वतंत्र उपयोग, जीवन-क्रीड़ा, जीवन का सुख तथा शान्ति की पूर्णता (प्राणारामम्, मनानन्दम्, शान्ति समृद्धम्) आदि नष्ट हो रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं यदि भारतवासी अपना बोझ और भी बढ़ा हुआ अनुभव करें, उसे हलका होते न पावें। उससे

ब्रिटेन के कार्य की महत्ता की चर्चा करना व्यर्थ है क्योंकि उस कार्य के आध्यात्मिक महत्त्व पर इतिहास अपना निर्णय दे चुका है। यदि आधुनिक नेता अतीत की प्रतिध्वनिमात्र बनकर ही सन्तुष्ट हो गये हैं, अपनी ओर से कुछ कहने का प्रयास उन्होंने नहीं किया, यदि वे बौद्धिक मध्यस्थ ही बने रहे मौलिक दार्शनिक नहीं बन सके तो इस निष्फलता अथवा वन्ध्यत्त्व में पाश्चात्य सभ्यता की ठेस तथा गुलामी की लज्जा का भी कुछ कम हाथ नहीं है। भारत की वर्तमान मनोवृत्ति के गम्भीर कारणों से उसे आप हलचल, विद्रोह अथवा ललकार आदि किसी भी नाम से क्यों न पुकारें, अंग्रेज भली भाँति परिचित हैं। उन्होंने प्रयास किया कि अपनी सभ्यता को, जिसे स्वभावतः वे उच्चतर समझते हैं, भारतीयों तक पहुँचा दें और वे चाहते थे कि शिक्षा एवं ज्ञान-प्रचार के इस कार्य में, जो अच्छा ही है, वे बिना किसी संकोच अथवा बाधा के लगे रहें। पर भारत को इस सांस्कृतिक शासन से कोई सहानुभूति नहीं। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उन प्राचीन प्रथाओं से चिपटा हुआ है, जिन्होंने उसे काम, क्रोध तथा वासनाओं के वेग को दमन करने में सहायता दी है। जो उसके अतीत से परिचित है, वही उसके इस अध्यात्म-मन्दिर में रहने की ममता को समझ सकेगा क्योंकि "सभी अपने-अपने घर के स्वामी हैं" (सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा)। इस आभ्यन्तरिक स्वतंत्रता में अड़चन डालनेवाली राजनीतिक पराधीनता उसे घोर अपमान प्रतीत होती है। स्वराज्य की माँग तो इस अध्यात्म-देश की रक्षा-सम्बन्धी चिन्ता का ही केवल वाह्य प्रकाशन है।

फिर भी भविष्य आशापूर्ण है। यदि भारतवर्ष आन्तरिक स्वराज्य पा जाय तो पाश्चात्य विचार-धारा से भारतीय मस्तिष्क को बहुत सहायता मिल सकती है। भारतीय शास्त्रों ने संस्कृति के

सम्बन्ध में किसी 'मनरो'-सिद्धान्त को जन्म नहीं दिया। उस प्राचीन काल में भी, जब भारत अपने समाज की आवश्यकतापूर्ति के लिए पर्याप्त आध्यात्मिक भोजन उत्पन्न करता था, ऐसा कोई युग नहीं पाया जाता जब वह दूसरों के कल्पना-क्षेत्र की उत्पत्ति को उत्सुकतापूर्वक ग्रहण करने को तैयार न रहा हो। अपने समृद्ध युग में भारत उन एथेन्स-निवासियों के ज्ञान को मानकर चलता रहा जिनके विषय में पेरीक्लीज़ का कथन है—"हम अन्य लोगों के मतों को बड़ी प्रसन्नता के साथ सुनते हैं और जिनका मत हमसे नहीं मिलता, हम उनसे दूर नहीं भागते।" वाह्य प्रभावों का भय हमें उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में हममें आत्म-विश्वासहीनता अथवा दुर्बलता होती है। यह सच है कि आज हमारे चेहरे पर शोक-रेखाएँ हैं तथा बुढ़ापे के कारण हमारे बाल कुछ पक गये-से दिखाई देते हैं। हममें जो विचारशील हैं वे कुछ चिन्ताग्रस्त हैं, कुछ तो निराशावादी हो गये हैं और इसलिए विचार-क्षेत्र में वे एकान्तवासी संन्यासी बन गये हैं। पाश्चात्य संस्कृति से जो असहयोग चल रहा है वह तो अस्वाभाविक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हो जानेवाली एक ऐसी स्थिति है जो अधिक समय तक टिकनेवाली नहीं। उसके रहते भी पाश्चात्य-भावना को समझने तथा उसे प्रशंसा की दृष्टि से देखने का प्रयास हो ही रहा है। यदि भारत ने पाश्चात्य संस्कृति के बहुमूल्य अंश को ग्रहण कर लिया तो वह अतीत में की गई उसी प्रकार की अनेक क्रियाओं की पुनरावृत्ति-मात्र होगी।

जिन लोगों को पाश्चात्य प्रभाव ने स्पर्श नहीं किया है, वे अधिकांश में ऐसे लोग हैं जिन्हें अपनी बौद्धिक अथवा चारित्रिक विशिष्टता का गर्व है, जो राजनीति से बिलकुल उदासीन हैं तथा विश्वासपूर्ण आशा

के नहीं, भवितव्यतावलंबन तथा ममत्व-विसर्जन के भक्त हैं। उनका ख्याल है कि उन्हें न कुछ सीखना है और न कुछ भूलना है; वे तो अतीत के शाश्वत धर्म की ओर ही अपनी दृष्टि रखकर कर्तव्य का पालन करते जा रहे हैं। उन्हें मालूम है कि दूसरी शक्तियाँ भी काम कर रही हैं जिन्हें रोकने अथवा नियंत्रित करने की शक्ति उनमें नहीं है और उनकी सम्मति है कि हमें जीवन की कठिनाइयों एवं भ्रान्ति निर्मोचन का मुक़ाबला शान्तिपूर्वक तथा आत्म गौरव के साथ करना चाहिए। यह वर्ग अपने उन्नति-काल में अधिक गतिशील था और बराबर प्रयास किया करता था कि बुद्धिवाद तथा धर्म का सामंजस्य स्थापित कर लेना चाहिए। इसने सदा ही धर्म की संयुक्तिक व्याख्या करके नास्तिकों से उसकी रक्षा की है तथा धार्मिक विवेचना में इसने रूपक-पद्धति को ही अपना साधन बनाया है। इस वर्ग के लिए धर्म का विषय मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति है, उसमें बुद्धि के साथ ही मनुष्य की व्यावहारिक तथा रागात्मक वृत्तियों का भी समावेश होता है। यदि प्राचीन विद्या के वर्तमान प्रतिनिधियों में अतीत की स्फूर्ति भी होती तो अन्य शक्तियों के साथ असहयोग करने की अपेक्षा उन्होंने स्वतंत्रता तथा मौलिकता के साथ प्राचीन विद्या से उत्तराधिकार में पाई शक्ति के द्वारा एक नवीन योजना की सृष्टि की होती। पर उनकी तो विचारों अथवा क्रिया के सम्बन्ध में, लौकिक अथवा आध्यात्मिक सम्बन्ध में, प्रमाण में, नियम में अत्यधिक श्रद्धा है और इसलिए वे प्रगति-विरोध तथा मानसिक दासता के दोषी बन गये हैं। मुसलमानों के आने से पहिले भी हम प्रमाण चाहते जरूर थे किन्तु उस मर्यादानुसरण में बौद्धिक स्वतंत्रता का अपहरण नहीं था और यद्यपि लोग अपने मनोनुकूल शास्त्र की आज्ञा के पालन के समर्थन में युक्तियाँ देने को सदा तैयार

रहते थे, वह शास्त्र चाहे वेद हो चाहे आगम. और यद्यपि युक्तिपूर्ण काट-छाँट तथा दार्शनिक विवेचना के द्वारा वे शास्त्र को सदा ही तर्कयुक्त सिद्ध कर दिया करते थे, पर आज की शास्त्र-भक्ति तो मानवात्मा के लिए कारागार बन गई है। धर्मशास्त्र की किसी बात पर भी शंका करने का यह अर्थ लिया जाता है कि हम अपने महान् पूर्वजों के अवाध्य हो रहे हैं। उन्हें चुपचाप मान लेना उनमें अपनी भक्ति का परिचय देना समझा जाता है। जिज्ञासा तथा शंका को प्राचीन ग्रन्थों का उद्धरण देकर दबा दिया जाता है, वैज्ञानिक सत्य को असम्मान की दृष्टि से देखा जाता है यदि वह येन केन प्रकारेण प्रचलित विकास का ही अंग नहीं बनाया जा सकता। अकर्मण्यता, विरोध-हीनता तथा शासन-स्वीकृति ही बौद्धिक सद्‌गुण समझी जाती हैं। अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि आज का दार्शनिक साहित्य अतीत के श्रेष्ठ कार्य की तुलना में बहुत हीन श्रेणी का है। यदि विचार को इतना अधिक श्रम न करना पड़ता तो निश्चय हो वह कहीं अधिक विशद होता।

बुद्धि अथवा विवेक में श्रद्धा भारतीय दार्शनिकों की पैतृक सम्पत्ति है। प्राचीन ऋषि अनुकरण नहीं, सृजन पसन्द करते थे। सत्य के लिए नित्य नवीन विजय प्राप्त करने को वे सदा उत्सुक रहते थे तथा सतत परिवर्तनशील अतएव चिर नवीन जीवन-रहस्यों के उद्घाटन में वे नित्य तत्पर रहते थे। उत्तराधिकार में प्राप्त की हुई विचार-राशि की विपुलता ने कभी उन्हें मानसिक दासता में नहीं बाँध पाया। हम पुराने समाधानों की सीधी-सीधी नक़ल कभी नहीं कर सकते क्योंकि इतिहास कभी पुनरावृत्ति नहीं करता। अपने युग में उन्होंने जो किया था, आज उसके दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं।

हमें अपनी आँखें खोल रखने की जरूरत है, अपनी समस्याओं का पता लगाना है और उनके हल करने में अतीत से उत्तेजना अथवा प्रेरणा प्राप्त करनी है। सत्य की भावना किसी वाह्य रूप से चिपटी नहीं रहती वरन् वह तो उसे बराबर बदलती रहती है। पुराने शब्दों का भी प्रयोग नये ढंग से किया जाता है। वर्तमान दर्शन वर्तमान युग के हो लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकता है, अतीत के लिए नहीं। उसका रूप तथा विषय उतना ही मौलिक होगा जितना कि वह जीवन जिसकी विवेचना में वह संलग्न है। चूँकि वर्तमान अतीत से सम्बद्ध है, अतः अतीत से सम्बन्ध-विच्छेद कभी नहीं होगा।

रूढ़िवादियों की एक युक्ति यह भी है कि सत्य पर युग का प्रभाव नहीं पड़ता। सत्य का स्थान कभो दूसरा नहीं ग्रहण कर सकता, वैसे ही जैसे अस्तोन्मुख सूर्य अथवा माता के वात्सल्य प्रेम की पूर्ति किसी दूसरी वस्तु से नहीं की जा सकतो। सत्य शाश्वत हो सकता है पर उसकी अभिव्यक्ति जिस रूप में होती है, उसमें परिवर्तन सम्भव है। हम आत्मा तो अतीत से ले सकते हैं, क्योंकि आरम्भिक सिद्धान्त अब भी नितान्त आवश्यक है, पर शरीर तथा प्राण वर्तमान से ही लेने होंगे। हम भूल जाते हैं कि जिस रूप में धर्म आज हमारे सामने है, वह स्वयं अनेक परिवर्तनों से युक्त युगों का परिणाम है; और कोई वजह नहीं कि उसके रूपों में आवश्यकता पड़ने पर भविष्य में परिवर्तन न हो। यह सम्भव है कि हम शब्दों को मानकर चलते रहें और फिर भी उसकी समस्त भावना को बिगाड़ दें। यदि दो हजार वर्ष पहिले के हिन्दू-नेता, जिनमें पाण्डित्य आज के नेताओं से कम होने पर भी उनसे ज्ञान अधिक था, आज फिर हमारे बीच आ जायँ तो वे उन पण्डितों को कभी अपना अनुयायी न स्वीकार करेंगे, उनके जो कथनों

के अक्षरार्थ से रत्ती भर भी नहीं डिगे हैं।* आज बहुत कंकड़-पत्थर इकट्ठा हो गये हैं जो आत्म-सरिता के स्वतंत्र जीवन में बाधा बनकर उसे सुखाये दे रहे हैं। यह कहना कि सत्यरहित, प्राणहीन रूढ़ियों को भी उनकी प्राचीनता तथा श्रद्धास्पदता के कारण हम स्पर्श नहीं कर सकते, उस रोगी को कष्ट की अवधि को बढ़ानामात्र है जो अतीत के कलुषित विष से पीड़ित है। अनुदार व्यक्तियों को परिवर्तनक्षम बनना होगा। चूंकि अभी तक वे लोग इतने उदार नहीं हो पाये हैं, अतएव हमें दर्शन के क्षेत्र में तीक्ष्ण प्रतिभा एवं अतात्त्विक अस्त-व्यस्तता का विलक्षण मिश्रण दिखाई पड़ता है। विचारशील भारतवासियों को अपनी पूर्ण शक्ति का उपयोग तो इन प्रश्नों के हल करने में करना चाहिए कि अपने प्राचीन आदर्श को अस्थायी झाड़-झंखाड़ से किस प्रकार दूर रखें किस प्रकार धर्म तथा विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करें, स्वभाव एवं व्यक्तित्त्व के अधिकारों को किस प्रकार समझावें तथा सुलझावें और प्राचीन आदर्श के आधार पर विभिन्न प्रभावों को किस प्रकार व्यवस्थित करें। किन्तु हमारे दुर्भाग्य से कुछ परिषदें इन

* "यदि उपनिषद् बुद्ध अथवा महाकाव्य काल का प्राचीन भारतवासी आधुनिक भारत में आ पड़े तो वह यह अनुभव करेगा कि उसके जाति के लोग अतीत के वाह्य रूपों, छिलकों तथा चीथड़ों से तो चिपटे हैं पर उसके उच्च आदर्श के ९० प्रतिशत को भुला बैठे हैं।······वह हमारे बौद्धिक दारिद्र्य को, हमारी गतिहीनता को, परिवर्तनहीन लीक पीटने को, विज्ञान के गतिरोध को, कला के वन्ध्यत्व को, अपेक्षाकृत रचनात्मक स्फूर्ति की दुर्बलता को देखकर आश्चर्यचकित हो जायगा।" अरविन्द घोष, आर्य. ५ प्र० ४२४

समस्याओं के सुलझाने में नहीं प्रत्युत् पुराण-वस्तु-पण्डितों के समाज के उपयुक्त गवेषणा में संलग्न हैं। वह तो विशेषज्ञों की युद्ध-भूमि बन गया है। देश की धार्मिक शिक्षा का आयोजन उदार दृष्टि से नहीं हो रहा है। लोगों की समझ में नहीं आता कि हमारी आध्यात्मिक बपौती पर भाग्य के कतिपय लाड़लों का एकाधिकार कैसे हो सकता है? विचार तो शक्तियाँ हैं और यदि हमें वर्तमान वृद्धावस्था-जनित मृत्यु से उनकी रक्षा करना इष्ट है तो उनका प्रसार सभी ओर करना होगा। यह नहीं हो सकता कि उपनिषद्, गीता एवं बुद्ध के प्रवचन, जो मानव-मस्तिष्क में इतने उच्चादर्शों का संचार कर देते थे, अब अपनी शक्ति को खो चुके हों। यदि समय निकल जाने से पहिले हम अपने जातीय जीवन को फिर से संगठित कर सकें तो भारतीय दर्शन का भविष्य उज्ज्वल है; कौन कह सकता है कि इन शक्तिशील वृक्षों में अब भी कैसे कैसे फूल खिल सकते हैं, कैसे-कैसे फल पक सकते हैं।

यद्यपि वे लोग, जो पाश्चात्य संस्कृति से बिलकुल ही अछूते हैं, विचार एवं क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में रूढ़िवादी बने हुए हैं, किन्तु पाश्चात्य विचार-धारा में दीक्षित कुछ ऐसे लोग भी हैं जो प्राकृतिक बुद्धिवाद के नैराश्यपूर्ण दर्शन को मानकर हमें अतीत के भार से मुक्त होने का सत्परामर्श देते हैं। ये लोग परम्परा-असहिष्णु एवं अतीत के तथाकथित ज्ञान में शंकालु हैं। "प्रगति-वादियों" की यह मनोवृत्ति आसानी से समझ में आ जाती है। भारत को आध्यात्मिक बपौती ने आक्रमणकारियों तथा लुटेरों से उसकी रक्षा नहीं की। ऐसा मालूम होता है कि उसने भारत को धोखा दिया और उसे वर्तमान पराधीनता के चंगुल में फँसा दिया। य देशभक्त पाश्चात्य राष्ट्रों की भौतिक सफलता का

अनुकरण करना चाहते हैं और प्राचीन संस्कृति के मूल को ही इस प्रकार खोद फेंकना चाहते हैं जिससे पाश्चात्य देशों से प्राप्त नवीनता को स्थान दिया जा सके। अभी कल तक भारतीय विश्व-विद्यालयों में भारतीय दर्शन पाठ्य-विषयों में नहीं रखा जाता था और अब भी विश्वविद्यालयों के दार्शनिक विषयों में इसका बहुत ही निम्न स्थान है। हमारी शिक्षा का सम्पूर्ण वातावरण ही भारतीय संस्कृति की हीनता के संकेतों से पूर्ण है। मैकाले ने जिस नीति का उद्घाटन किया था, उसका सांस्कृतिक महत्त्व कुछ भी क्यों न हो वह एकांगी अवश्य है। जहाँ सदा सजग रह कर वह हमें पाश्चात्य संस्कृति की शक्ति एवं महत्ता को एक क्षण के लिए भी भूलने नहीं देती, वहाँ दूसरी ओर उसने हममें अपनी संस्कृति में अनुराग एवं आवश्यकतानुसार उसमें संस्कार कर लेने की प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न की। किसी-किसी पक्ष में तो मैकाले की अभिलाषा बिलकुल पूर्ण हो गई है और ऐसे शिक्षित भारतवासी हैं जो मैकाले के ही सुप्रसिद्ध शब्दों में "अंगरेज़ों से भी बढ़कर अंगरेज" हैं। स्वभावतः इनमें से कुछ लोग भारतीय दार्शनिक इतिहास के महत्त्व-निर्धारण में प्रतिकूल विदेशी आलोचकों का ही अनुकरण करते हैं। वे भारत के दार्शनिक विकास को मूर्खता एवं अन्धविश्वास से पूर्ण विचारों का नीरस विरोध-क्षेत्र समझते हैं। उनमें से एक सज्जन ने अभी हाल ही में घोषित किया था कि यदि भारत को उन्नति करना है तो उसे चाहिए कि वह इंगलैंड को अपनी "आध्यात्मिक जननी" तथा ग्रीस को "आध्यात्मिक मातामही" बनावे। चूँकि धर्म के प्रति आपकी श्रद्धा नहीं है, अतः उन्होंने हिन्दू-धर्म को ईसाई-धर्म में परिवर्तित कर देने का प्रस्ताव

अवश्य नहीं किया है। आधुनिक युग के भ्रान्ति-निर्मोचित एवं पराजय के शिकार इन लोगों का कहना है कि भारतीय दर्शन में अनुराग रखना यदि मिथ्या आत्म-गौरव की प्रवंचना नहीं है तो कम-से-कम राष्ट्रीय भावनाजनित दोष तो अवश्य है।

आश्चर्य का विषय है कि जब पश्चिम के लोगों ने भारत को हास्यजनक समझना बन्द कर दिया है तो उसी की सन्तान ने उसे विचित्र समझना आरम्भ कर दिया है। पश्चिम ने भरपूर कोशिश की कि वह भारत को इस बात का विश्वास दिला दे कि उसका दर्शन मूर्खतापूर्ण, उसकी कला बच्चों का खिलवाड़, उसका काव्य प्रतिभा-रहित, उसका धर्म हास्यास्पद तथा उसका आचरण-शास्त्र बर्बर है। अब जब पश्चिम यह अनुभव कर रहा है कि उसका विचार सर्वथा सत्य नहीं है तो हममें से कुछ लोग जोर देकर यह कह रहे हैं कि वह विचार पूर्णरूप से ठीक है। यह सच है कि जाग्रत् विचारों के इस युग में लोगों को संस्कृति की किसी पूर्व अवस्था में बलपूर्वक ले जाकर सन्देह के खतरे तथा तर्क की क्षोभकारिणी शक्ति से बचाये नहीं रखा जा सकता, पर हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि आचरण, जीवन तथा नीति के किसी सर्वथा नवीन रूप के निर्माण करने की अपेक्षा पहले से पड़ी हुई नींव पर ही निर्माण करने में अधिक सौकर्य है। अपने जीवन-स्रोत से बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना हमारे लिए सम्भव नहीं। रेखागणित के चित्रों के विपरीत, हमारी दार्शनिक योजनाओं का प्रादुर्भाव तो जीवन-संघर्ष में ही होता है। हमारी ऐतिहासिक परम्परा ही वह भोजन है जिसे त्यागकर हम शून्यता के, मृत्यु के, मुख में जा पड़ेंगे।

अनुदार वर्ग के लोगों का निश्चित मत है कि हमारी प्राचीन संस्कृति महान् है एवं आधुनिक संस्कृति ईश्वर-विरोधी है; उग्र परिवर्तनवादियों का उतना ही निश्चित सिद्धान्त है कि प्राचीन परम्परा बिलकुल निरर्थक है तथा प्राकृतिक बुद्धिवाद ही केवल एक मार्ग है। इन मतों के समर्थन में बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास को ठीक-ठीक समझने का उद्योग करें तो हमें मालूम होगा कि ये दोनों ही समानरूप से त्रुटिपूर्ण हैं। जो भारतीय संस्कृति को निरर्थक बताकर उसकी निन्दा करते हैं, वे उसे जानते ही नहीं और जो उसे पूर्ण बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं, उन्हें किसी अन्य संस्कृति का ज्ञान नहीं। क्रान्तिवादियों तथा रूढ़िवादियों को, जो नूतन आशा एवं प्राचीन ज्ञान के प्रतीक हैं, पारस्परिक सम्पर्क में आना होगा एवं एक-दूसरे को समझना होगा। ऐसे संसार में, जहाँ वायुयान तथा जल-पोत, रेल तथा तार लोगों को एकता के सूत्र में बाँध रहे हैं, हम अन्य सम्बन्ध से बिलकुल रहित होकर नहीं रह सकते। हमारे दार्शनिक विचार संसार की प्रगति को प्रभावित अवश्य ही करेंगे। पोखरों की ही भाँति गतिहीन दार्शनिक धाराओं में भी अवांछित घास-फूस उग आती है पर बहनेवाली सरितायें सदा ही अभिनव निर्झरों से उत्साहरूपी निर्मल जल प्राप्त किया करती हैं। अन्य लोगों की संस्कृति को आत्मसात् कर लेने में कोई बुराई नहीं है; हाँ, जिस वस्तु को हम ग्रहण करें उसे शुद्ध एवं परिष्कृत करके अपनी श्रेष्ठ वस्तु में बिलकुल मिला दें। बाहर से आकर राष्ट्रीय कड़ाही में गिर कर एकाकार होने के ठीक ढंग का निर्देश महात्मा गांधी, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, अरविन्द घोष तथा श्री भगवानदास जी के लेखों में

पाया जाता है। उनमें हमें अपने उज्ज्वल भविष्य की क्षीण प्रकाश-रेखा दिखाई देती है, शुष्क पांडित्य पर विजय एवं महान् संस्कृति के दर्शन कर लेने के चिह्न दिखाई देते हैं। यद्यपि अतीत भारत के लोक-कल्याण की भावना से वे प्रभावित हैं पर पाश्चात्य विचारों को भी उन्होंने भली भाँति समझा एवं अपनाया है। वे प्राचीन मूल-स्रोत को फिर खोज निकालने के लिए उत्सुक हैं जिससे विशुद्ध, निर्मल प्रणालियों के द्वारा प्यासी भूमि का सिंचन किया जा सके। परन्तु जिस भविष्य को देखने को हम विकल हैं, अभी तो उसकी सत्ता का आभास भी कहीं नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि उस राजनीतिक उत्तेजना के मन्द पड़ने पर, जिसने भारत के अनेक श्रेष्ठ विद्वानों को अपने में ही तल्लीन कर रखा है, तथा नवीन विश्वविद्यालयों में भारतीय विचार-धाराओं के अध्ययन पर अधिकाधिक ज़ोर देने के फलस्वरूप (पुराने विश्वविद्यालय इस कार्य को बड़ी अन्यमनस्कता से कर रहे हैं) नव प्रभात का उदय हो। रूढ़िवादी शक्तियाँ, जिन्हें भविष्य से बढ़कर अतीत की ममता है, आनेवाले युग में विशेष प्रभावशाली नहीं रह सकेंगी।

आज भारतीय दर्शन के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आ गया है। उसे यह निश्चय करना है कि यह दर्शन एक सीमित विस्तार का वर्तमान जीवन-परिस्थितियों से एकान्त असम्बद्ध छोटा-सा सम्प्रदाय-मात्र बना दिया जाय अथवा उसे वास्तविक जीवन से सम्पन्न कर दिया जाय जिससे वह अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर सके, भारत के प्राचीन आदर्शों में सुवर्धित आधुनिक विज्ञान का समावेश करके उसे मानव-प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण साधन बना दें। लक्षणों से तो यही प्रतीत होता है कि भविष्य में दूसरा मार्ग ही स्वीकृत होगा।

प्राचीन दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रति हमारी भक्ति एवं दार्शनिक लक्ष्य का अनुरोध है कि हमारा दृष्टिकोण बहुत उदार होना चाहिए। वर्तमान काल में भारतीय दर्शन की सार्थकता इसी में है कि वह जीवन को उन्नत एवं महान् बना सके। भारतीय दार्शनिक विकास की विगत धारा हमारे हृदय में आशा का संचार करती है। याज्ञवल्क्य तथा गार्गी, बुद्ध तथा महावीर, गौतम तथा कपिल, शंकर तथा रामानुज, माधव तथा वल्लभ एवं अनेक अन्य दार्शनिक भारत के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए अकाट्य प्रमाण हैं, उसके सम्मान्य जीवित राष्ट्र होने के स्पष्ट प्रमाण हैं, इस बात का प्रमाण हैं कि अब भी उठकर वह इस महती सम्भावना को यथार्थ बना सकता है।